आमुख

भूमिका

योगदर्शन

मानव जीवन का प्रमुख लक्ष्य समस्त दुःखों, क्लेशों, वासनाओं और अतृप्ति से मुक्त होकर सच्चे सुख-शान्ति और आनन्द को प्राप्त करना है। वैसे तो इस उद्देश्य को पूर्ण करने के लिए समस्त विवेकवान् पुरुष अपनी रुचि, बुद्धि व क्षमता के अनुसार विभिन्न साधनों का साहाय्य लिया करते हैं। ऋषि, मुनियों ने इसके निमित्त विभिन्न प्रकार की उपासनाओं, जप, तप, भक्ति तथा अनेक कर्मकाण्डों का विधान पात्रभेदानुसार किया है; तथापि ये सभी विधान आत्मोत्कर्ष हेतु निचले सोपान माने गये हैं। इन साधनों से व्यक्ति लौकिक जीवन में सुख और सफलताएँ अर्जित कर सकता है और मरणोपरान्त स्वर्गिक-भोग भी प्राप्त कर सकता है; किन्तु प्रज्ञा (सत्य-ज्ञान) की प्राप्ति करके आत्मा के अन्तिम लक्ष्य कैवल्य के दिव्यानन्द के निमित्त उपर्युक्त साधनों की अपेक्षा कहीं उच्च साधनों की आवश्यकता पड़ती है। ऐसे ही अनेक उच्च साधनों में 'योग' अति महत्त्वपूर्ण साधन है।

अन्य साधनों से यह उच्चतर इसलिए माना जाता है कि जहाँ अन्य साधन विचारात्मक अथवा सैद्धान्तिक हैं, वहीं योगदर्शन पूर्ण रूपेण व्यावहारिक एवं क्रियात्मक है। प्रत्येक अभ्यासी साधक इसकी सत्यता और प्रामाणिकता का परीक्षण स्वयं कर सकता है। योगदर्शन की वास्तविकता पर प्रकाश डालते हुए एक विद्वान् ने योगदर्शन की समालोचना में लिखा हैं-'कुछ व्यक्ति योग का प्रमुख स्वरूप उद्योग(अभ्यास)मानते हैं, कुछ लोग वियोग (वैराग्य) समझते हैं तथा कुछ लोग संयोग(प्रणिधान)समझते हैं;किन्तु वास्तविकता यह है कि इन सभी का सम्मिलित स्वरूप ही 'योग' है। इनमें से किसी एक को भी छोड़ने से उद्देश्य की पूर्ति हो सकना सम्भव नहीं है।'

'योग' शब्द का अर्थ

''योग' शब्द की व्युत्पत्ति 'युजिर् योगे' तथा 'युज समाधौ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लग कर हुई है। जिसका तात्पर्य '**समाधि अवस्था की प्राप्ति**' के लिए प्रक्रिया प्रस्तुत करना है। जब हम योग के इस व्युत्पत्तिपरक अर्थ पर गहनता पूर्वक विचार करते हैं, तो इसके मुख्यत: दो अर्थ निकलते हैं। प्रथम- जीव और ईश्वर अथवा आत्मा और परमात्मा का मिलन अर्थात् अद्वैत की अनुभूति तथा द्वितीय- अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तियों को एकाग्र करना है, जिसका लक्ष्य समाधि की स्थिति में पहुँचना अर्थात् स्व-रूप (वास्तविक रूप) में प्रतिष्ठित होना है। महर्षि व्यास जी ने योग का अर्थ समाधि ही बताया है। कारण यह है कि इसी अवस्था में पहुँचकर चित्त-वृत्तियों का पूर्णत: निरोध सम्भव है और तभी परमात्मा से तादात्म्य की स्थिति बन सकती है।

सांख्य और योग दर्शन में मूलभूत अन्तर

सांख्य और योग दोनों ही दर्शन मनुष्य के दु:खों के मूल कारणों को खोजकर उनके समाधान

देते हैं। अथर्ववेद में एक मन्त्र है- **अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति** (अथर्व० १०.८.३२) अर्थात् निकट में बैठे हुए को छोड़ता नहीं तथा पास में बैठे हुए को देखता नहीं। तात्पर्य यह है कि जीव निकट विराजमान अपने साथी (प्रकृति) से संश्लिष्ट है अर्थात् उसे छोड़ता नहीं, तथा पास में ही विराजमान अन्य साथी (परमात्मा) को देख भी नहीं पाता। सांख्य और योगदर्शन में इन्हीं विषयों पर विचार किया गया है। सांख्यदर्शन की दृष्टि में मनुष्य के दुःखों का कारण 'मनुष्य का प्रकृति से अत्यधिक संश्लिष्ट रहना है,' वह उससे छूटने या अनासक्त भाव से रहने का प्रयत्न ही नहीं करता तथा योगदर्शन की दृष्टि में मनुष्य के दुःखों का कारण यह है कि वह परमात्मा जो पास में ही (हृदय में) विराजमान है, उसे देखने-उससे संयोग करने का प्रयत्न ही नहीं करता। सांख्य और योग में मूलभूत पार्थक्य यही है। जिन दुःखों से व्यक्ति दुःखी रहता है, योगदर्शन में उन्हें पंच क्लेश के नाम से जाना जाता है। ये हैं- अवस्था, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश। इन्हीं क्लेशों से छूटने के व्यावहारिक (क्रियापरक) उपाय योग दर्शन में वर्णित हैं। अतः योगदर्शन को हम व्यावहारिक दर्शन कह सकते हैं, क्योंकि इसमें जो तथ्य प्रतिपादित किये गये हैं, उनकी प्रत्यक्ष अनूभुति कैसे हो, यह भी बतलाया गया है? इसी विशेषता के कारण 'योगदर्शन' को सर्वोत्कृष्ट महत्त्व का माना गया है।

'योग' की उपर्युक्त विशेषताओं पर ध्यान देते हुए हम कह सकते हैं कि योग एक विज्ञान है। यह हिन्दू-संस्कृति की सर्वश्रेष्ठ निधि है। सभी दर्शनों का यह अभिमत है कि योग की प्रक्रिया मोक्ष का मुख्य साधन है। हमारे ऋषि-मुनियों के प्रातिभ ज्ञान के उदय में 'योग' ही सर्वाधिक उपयोगी हेतु माना जाता है। भारतवर्ष में सिद्धान्त और व्यवहार की उभय दृष्टियों के द्वारा योग का जो वैज्ञानिक अध्ययन किया गया, वह अन्यत्र नितान्त दुर्लभ है।

'योग' सांख्य का ही क्रिया रूप है, गीता में भी उल्लेख है- **एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति** (गी०५.५) योग समस्त सम्प्रदायों और मत-मतान्तरों के पक्षपात एवं वाद-विवाद से रहित सार्वभौम धर्म है,जो स्वयं अनुभव के द्वारा तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना सिखलाता है और मनुष्य को उसके अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है।

योग की विभिन्न शाखाएँ और प्रणालियाँ

जैसा कि पीछे 'योग शब्द का अर्थ' शीर्षक में स्पष्ट हो चुका है कि जीवात्मा और परमात्मा के सम्मिलन के उपयुक्त और उत्कृष्ट मार्ग को 'योग' कहते हैं अथवा यों कहें कि चित्त-वृत्तियों को नियन्त्रित करके एकाग्र करने के अभ्यास का नाम 'योग' है। ईश्वर-जीव के संयोग की विभिन्न पद्धतियाँ भारतीय शास्त्रों में मिलती हैं। उन्हीं के आधार पर विभिन्न क्रियाओं के नाम के साथ योग शब्द जुड़ गया, इस प्रकार योग की अनेकानेक शाखाएँ और पद्धतियाँ बन गईं।

यों तो योग की अनेक प्रणालियाँ हैं; किन्तु उनमें एक-दो ही अधिक प्रसिद्ध हैं, जैसे किसी सामान्य शिक्षित समझदार व्यक्ति से योग के विषय में पूछें, तो वह दो प्रकार के योगों का उल्लेख सहजता से कर देगा। ये हैं-१. हठयोग २. राजयोग। यदि अत्यल्प शिक्षित अथवा अशिक्षित व्यक्ति से योग के विषय में पूछें, तो वह आसन-प्राणायाम जैसी हठयोग की क्रियाओं का ही न्यूनाधिक उल्लेख कर पायेगा। इस प्रकार ये दो योग ही अधिक प्रख्यात हैं। वैसे वर्तमान में जो योग के विभिन्न नाम

प्रचलित हैं, उनमें से कुछ नाम नीचे दे रहे हैं — **१. राजयोग २. हठयोग ३. जपयोग ४. लय-योग ५. मन्त्रयोग ६. शब्दयोग ७. ज्ञानयोग ८. कर्मयोग ९. भक्तियोग १०. प्राणयोग ११. हंसयोग १२. तन्त्रयोग १३. स्वरयोग १४. शिवयोग १५. भृगुयोग १६. ध्यानयोग १७. पाशुपत योग १८. समाधियोग १९. प्रेमयोग २०. ब्रह्मयोग २१. अनासक्ति योग २२. पुरुषोत्तम योग २३. तारकयोग २४. नामकीर्तन-योग २५. पुरुषयोग २६. स्पर्शयोग २७. अस्पर्शयोग २८. भावयोग २९. अभावयोग ३०. क्रियायोग ३१. बुद्धियोग ३२. विज्ञानयोग ३३. पतिव्रतयोग ३४. गृहस्थयोग ३५. स्वप्नयोग ३६. सुषुप्तियोग ३७. सांख्ययोग ३८. कुण्डलिनीयोग ३९. चित्तयोग ४०. इच्छायोग ४१. ज्ञानेन्द्रिययोग ४२. कर्मेन्द्रिययोग ४३. मानसयोग ४४. अहङ्कारयोग ४५. पूर्णयोग ४६. कबीरपंथीयोग ४७. स्वामिनारायणयोग ४८. पारसीमतयोग ४९. ईसाईमत-योग ५०. जैनमत-योग ५१. बौद्धमत-योग ५२. समर्पणयोग आदि।**

ये तो कुछ ही नाम हैं, इनके अतिरिक्त और भी अनेक योगों के नाम विभिन्न साहित्य और लेखों में मिलते हैं। इसके पीछे तथ्य यही है कि समस्त सम्प्रदायों ने अपनी विशिष्ट साधना पद्धतियों को 'योग' नाम से अलंकृत किया है; परन्तु गहनता से यदि इन सभी पद्धतियों की तह में जाएँ, तो विदित होगा कि इन सभी का उद्गम स्थल महर्षि पतञ्जलि का योग (राजयोग) ही है।

योगशास्त्र के आचार्य और ग्रन्थ

पतञ्जलि- वस्तुत: यह शास्त्र तो ऋषियों के अनुभूत तत्त्वों के फल को जानने का साधन है। विद्वानों का कहना है कि 'योगसूत्र' के रचयिता,'व्याकरण महाभाष्य' के निर्माता तथा 'चरक संहिता' के रचयिता एक ही व्यक्ति 'पतञ्जलि' हैं। इस सन्दर्भ में यह उक्ति विद्वज्जनों में अति प्रचलित है—

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन। योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलरानतोऽस्मि। [मैं उन मुनियों में श्रेष्ठ पतञ्जलि को हाथ जोड़कर नमस्कार करता हूँ; जिसने योग से अन्त:करण के, व्याकरण से-पद से वाणी के और वैद्यक से शरीर के मल (दोषों) को दूर किया है।] ईसा से पूर्व दूसरी सदी में इन्होंने जन्म लिया था। कहा जाता है कि यह 'शेषनाग के अवतार' थे। शेषनाग के रूप को धारण करते हुए इन्होंने'महाभाष्य'की रचना की थी और शिष्यों को पढ़ाया था। महर्षि पतञ्जलि प्रणीत यही' योगसूत्र'योग-शास्त्र का मूल ग्रन्थ है।

व्यास-योगसूत्र पर 'व्यास' का भाष्य है। यह 'व्यास' महाभारत के रचयिता से भिन्न हैं। यद्यपि 'भाष्य' बहुत विस्तृत है, फिर भी यह कठिन है।

वाचस्पतिमिश्र - दशम शतक के वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व वैशारदी' नामक व्यास भाष्य की टीका सरल और बोधगम्य है।

विज्ञानभिक्षु - विज्ञानभिक्षु ने व्यास भाष्य के ऊपर एक 'वार्त्तिक' लिखा है। इन्होंने 'योगसार संग्रह' नाम का एक छोटा सा ग्रन्थ भी लिखा है।

योगसूत्र पर 'भोज' की एक 'वृत्ति' है। रामानन्द की 'मणिप्रभा' नाम की टीका पाण्डित्यपूर्ण है। सदाशिवेन्द्र सरस्वती का 'योगसुधाकर' भी बहुत सुन्दर टीका है।

पातञ्जल योग दर्शन का परिचय और महत्त्व

पूर्वांकित शीर्षकों में हम देख चुके हैं कि प्राचीन काल से ही योग की अनेक शाखाएँ प्रचलित हैं। श्रीमद्‌भगवद्गीता में भी राजयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, सांख्य योग, ज्ञानकर्म संन्यास योग आदि विभिन्न योगों का उल्लेख हुआ है। परन्तु सभी विद्वान् इस विषय में एकमत हैं कि जगत् में योग (राजयोग-अष्टाङ्गयोग) के आदि प्रणेता महर्षि पतञ्जलि ही हैं। इसी कारण पतञ्जलि प्रणीत इस अष्टाङ्ग योग को अपत्यवाचक संज्ञा 'पातञ्जल योग' के नाम से जाना जाता है। इसी को आधार बनाकर योग की विभिन्न शाखाएँ जिनके नाम पूर्व में दिये जा चुके हैं, विकसित होती गईं।

महर्षि पतञ्जलि ने 'योगदर्शन' के दूसरे सूत्र में ही योग की परिभाषा और स्वरूप बता दिया है। **'योगश्चित्तवृत्ति निरोध:'** (यो०द० समा०/२) अर्थात् 'चित्त वृत्तियों को नियन्त्रित कर लेना अथवा रोक लेना ही योग है।' यह सूत्र सम्पूर्ण योग दर्शन का मूल आधार है। यदि चित्त की वृत्तियाँ एकाग्र न होंगी, तो मन संसार में चतुर्दिक् भटकता ही रहेगा और ईश्वर का दर्शन, साक्षात्कार और सम्मिलन कुछ न हो सकेगा। किसी विद्वान् ने इसी तथ्य की पुष्टि में लिखा है-

तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतक्षयम्।
एतज्ज्ञानञ्च ध्यानञ्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तर:॥

तात्पर्य यह है कि मन का निरोध (नियन्त्रण) तब तक करता रहे, जब तक वासनाएँ विनष्ट न हो जाएँ। इसी को ज्ञान कहते हैं, इसी को ध्यान कहते हैं, अन्य बातें तो मात्र ग्रन्थों का विस्तार हैं।

महर्षि पतञ्जलि के योग का प्रमुख उपदेश है कि मनुष्य स्थूल भाव से ऊँचा उठकर सूक्ष्मता की ओर बढ़े अथवा यों कहें कि वह भौतिकता को कम करके आत्म-तत्त्व को ग्रहण करने का प्रयत्न करे। मानव की चित्त वृत्तियाँ ही भौतिक जगत् के पदार्थों को ग्रहण करने वाली अर्थात् उनमें लिप्त होने वाली होती हैं। यौगिक क्रियाओं **(यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि)** द्वारा जैसे-जैसे चित्त वृत्तियों को नियन्त्रित किया जायेगा वैसे-वैसे मनुष्य बाहर से अन्दर की ओर प्रवेश करता जायेगा अर्थात् अन्तर्मुखी होकर आत्मतत्त्व को जानता जायेगा और अन्तत: समाधि एवं कैवल्य अवस्था तक पहुँच जायेगा।

ऊपर यम-नियमादि जिन आठ यौगिक क्रियाओं का उल्लेख किया है, उन्हें ही अष्टाङ्गयोग कहते हैं। जिन साधकों को ये आठों अङ्ग कठिन प्रतीत होते हैं, वे इनमें से किसी एक को लेकर ही लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयत्न करते हैं। इसी के परिणाम स्वरूप **लययोग, मन्त्रयोग, जपयोग, ज्ञानयोग, हठयोग आदि यौगिक शाखाओं का जन्म हुआ।** इनकी संख्या अब सौ से ऊपर हो गई है। पीछे उनमें से कुछ शाखाओं का नामोल्लेख किया गया है।

योग दर्शन के अवगाहन से अनुभव होता है कि योगदर्शन आध्यात्मिक लक्ष्य या जीवन के आत्यन्तिक लक्ष्य की प्राप्ति का अचूक साधन है। साथ ही योग, मानव जीवन को सार्थक और सफल बनाने का सर्वोत्कृष्ट मार्ग है। सभी जन इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि इच्छा और धारणा शक्ति जगत् की सबसे महत्वपूर्ण शक्तियाँ हैं,इन्हीं के सहारे आज तक सभी महापुरुषों,सिद्धों,तपस्वियों ने बड़े-बड़े कार्य किये हैं।

यह आवश्यक नहीं कि इन सभी ने योग में वर्णित साधनों का यथावत् उपयोग किया हो, पर उन सभी को किसी न किसी प्रकार अपने चित्त,इन्द्रियों को नियन्त्रित करके लक्ष्य पर सम्पूर्ण शक्ति को लगाना पड़ा है तभी वे अपना उद्देश्य प्राप्त कर सके हैं। इस प्रकार योग दर्शन के सिद्धान्तों का ज्ञान रोजमर्रा के दैनन्दिन जीवन से लेकर विभिन्न बड़े-बड़े कार्यों को करने और समाधि की स्थिति तक पहुँचने में सहायक है।

पातञ्जल योग दर्शन के पाद एवं उनके प्रतिपाद्य विषय

योगदर्शन प्राय: चार भागों में विभक्त है। इन भागों को 'पाद' संज्ञा दी गई है। ये क्रमश: इस प्रकार हैं— समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद। प्रथम पाद में ५१, द्वितीय में ५५, तृतीय में ५५ और चतुर्थ पाद में ३४ सूत्र हैं। इस प्रकार चारों पादों में कुल १९५ सूत्र हैं।

१. समाधि पाद- इस पाद में योग का स्वरूप, उसके विभाग तथा फल वर्णित हैं। प्रारम्भ में योग को एक अनुशासनात्मक प्रक्रिया बताया गया है कि आध्यात्मिक अनुशासन में रहकर ही परमात्मा से योग हो सकता है। तत्पश्चात् योग को 'चित्त वृत्ति निरोध' कहकर परिभाषित किया गया है। तदुपरान्त चित्त की वृत्तियाँ, प्रमाण, अभ्यास, वैराग्य और समाधि आदि निरूपित हैं। इसके बाद सम्प्रज्ञात समाधि और विदेह तथा 'प्रकृतिलय' योगियों को प्राप्त होने वाली असम्प्रज्ञात समाधि का वर्णन है। तत्पश्चात् ईश्वर की परिभाषा तथा योग में होने वाले विघ्न, विक्षेप और उन्हें दूर करने के उपाय मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा का वर्णन किया गया है। अन्त में योग के फल के रूप में सबीज और निर्बीज समाधि की स्थितियों का वर्णन करते हुए समाधि पाद का समापन हुआ है।

२. साधन पाद- उपर्युक्त समाधि पाद में तो उन साधकों के लिए यौगिक साधनाओं का वर्णन था, जो पूर्व जन्मों की साधना के संस्कार लेकर जन्में हैं; किन्तु इस पाद में मध्यम वर्गीय उन साधकों के लिए साधन वर्णित हैं, जो जन्म से ही साधारण वातावरण में रहे तथा लौकिक मनुष्यों के समान विविध वासनाओं, राग, द्वेष आदि से ग्रस्त हैं। उनके लिए ऐसी साधनाएँ वर्णित की गई हैं; ताकि उनका क्रमश: आत्म विकास होता जाए और चित्त की शुद्धि करके वे परमात्म-तत्त्व का ज्ञान प्राप्त करने के अधिकारी हो जाएँ। इसी कारण द्वितीय पाद के प्रथम सूत्र '**तप: स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग:**' में तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान को क्रिया योग बताया गया है। तत्पश्चात् क्रियायोग से दूर होने वाले क्लेशों '**अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश**' का वर्णन है। इन क्लेशों का कारण कर्माशय अर्थात् संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कार्यों का स्वरूप वर्णित है। इसके बाद द्रष्टा-दृश्य का स्वरूप, संयोग, हान (संयोग का अभाव) अर्थात् दु:ख के नाश का निरूपण है। तत्पश्चात् प्रज्ञा का स्वरूप और अष्टाङ्ग योग **(यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि)** में क्रमश: यम से प्रत्याहार तक का वर्णन, योग की उच्च अवस्था विवेक ख्याति प्राप्त करने हेतु किया गया है। प्रत्याहार द्वारा योगी की इन्द्रियों पर स्वत: विजय हो जाती है, यह बताकर साधन पाद का समापन किया गया है। योग के अन्य अङ्ग धारणा, ध्यान और समाधि आदि का वर्णन अगले पाद में हुआ है।

३. विभूतिपाद- पूर्व वर्णित साधनपाद में मध्यम वर्गीय साधकों के लिए योग के बाह्य साधन यम, नियम, आसन, प्राणायाम, और प्रत्याहार का वर्णन किया गया था, अगले पाद विभूति पाद में अगले तीन साधन धारणा, ध्यान और समाधि प्रारम्भिक तीन सूत्रों में वर्णित हुए हैं। चित्त वृत्ति के शरीर के किसी एक देश (अङ्ग) में ठहरने को 'धारणा' कहा गया है- '**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा**' (यो०द०विभू० १)। जिस देश में चित्त स्थिर हो उसी में वृत्ति का बने रहना 'ध्यान' बताया गया है-'**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्**' (यो०द०विभू० २)। जब मात्र ध्येय की ही प्रतीति हो और चित्त का अपना स्वरूप शून्य हो जाए, उस स्थिति को 'समाधि' निरूपित किया गया है-

'**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि:**'

(यो०द०विभू० ३)। अगले सूत्रों में बताया गया है कि जिस योगी के ये योग के आठों अङ्ग सिद्ध हो जाते हैं, उसके लिए संसार का कोई भी कार्य कठिन नहीं रहता। फिर बड़े से बड़े चमत्कार उस योगी के लिए तुच्छ प्रतीत होते हैं। बड़ी से बड़ी विभूतियाँ पाकर भी सच्चा योगी अहंकार नहीं करता; क्योंकि उसका लक्ष्य ये विभूतियाँ नहीं, वरन् कैवल्यावस्था है। अत: विभूति पाद के समापन पर यह उल्लेख किया गया है कि विभूतियाँ प्राप्त करने का लक्ष्य यह है कि साधक को आत्मा-परमात्मा और जगत् के रहस्यों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाये, जिससे वह लौकिक सुखों की अनित्यता को भली-भाँति समझ ले, ताकि फिर कभी उनकी ओर आकृष्ट न हो। तृतीय पाद की समाप्ति पर इस साधना के फल और अगले पाद के वर्ण्य विषय कैवल्य को इस सूत्र '**सत्त्व पुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति**' (यो०द० विभू० ५५) में बताकर विभूति पाद पूर्ण हुआ है।

४. **कैवल्यपाद**- पूर्व वर्णित विभूतिपाद में अनेकानेक सिद्धियों, विभूतियों की प्राप्ति समाधि द्वारा बताई गई है, किन्तु इस (कैवल्य) पाद के प्रारम्भ में बताया गया है कि ये सिद्धियाँ समाधि के अतिरिक्त अन्य कारणों — जन्म-औषधि, मन्त्र, तप से भी हो सकती है— '**जन्मौषधि मन्त्र तपः समाधिजाः सिद्धयः**' (यो०द०कैव० १); किन्तु इन सबके द्वारा कैवल्य की प्राप्ति नहीं हो सकती; क्योंकि इनके द्वारा विशिष्ट शक्तियों के प्राप्त होने पर योगी के चित्त में प्राचीन और नूतन कर्मों के संस्कार अवशिष्ट रह जाते हैं, जो उसे जन्म-मरण के चक्र से निवृत्त नहीं होने देते। अत: जिसने ध्यान या समाधि द्वारा शक्तियाँ प्राप्त की है; उसके कर्माशय दग्ध हो जाती हैं और वह मुक्ति (मोक्ष) या कैवल्य अवस्था का अधिकारी बन जाता है।

इस प्रकार चारों पादों में जिन विषयों का विवेचन हुआ है, उनका एक मात्र उद्देश्य यही है कि मनुष्य सुख-दु:ख रूप कर्मों के बन्धन और उनके परिणाम स्वरूप जो आवागमन है, उससे मुक्त हो, जिससे विभिन्न प्रकार की योनियों और पुनर्जन्मों की शृंखला से छूटकर आत्मकल्याण कर सके। इसी कारण इस 'योगसूत्र' में अन्य ग्रन्थों के समान खण्डन-मण्डन और तर्क-वितर्क को बिल्कुल स्थान न देकर संक्षेप में सिद्धान्त बताते हुए उसके क्रिया पक्ष को उभारा गया है, ताकि साधक उस पर चलकर स्वयं अनुभूति करके अपने गन्तव्य-आत्यन्तिक लक्ष्य कैवल्य अवस्था को प्राप्त कर सके।

पातञ्जल योग दर्शन का वैशिष्ट्य

भारत के प्रख्यात षड्दर्शनों में सर्वाधिक प्राचीन और मुख्य कौन है? इसका निर्णय अभी पूर्णरूपेण नहीं हो सका है; तथापि योगदर्शन का श्रेष्ठत्व सभी ने स्वीकार किया है। इस श्रेष्ठता का कारण योग दर्शन का क्रियात्मक व व्यावहारिक होना तो है ही, साथ ही इसकी ऐसी विशेषताएँ भी हैं, जो आत्मकल्याण और लोक कल्याण दोनों ही दृष्टियों से उपयोगी हैं। इनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है-

आस्तिकता प्रतिपादन- योगदर्शन जहाँ पुरुषार्थ करके सिद्धि प्राप्त करने का प्रतिपादन करता है, वही ईश्वर पर परिपूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखने का भी उपदेश करता है। समाधि पाद के २४ वें सूत्र में सूत्रकार ईश्वर का स्वरूप वर्णन करते हुए कहते हैं- '**क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः**' इस सूत्र में ईश्वर को कर्मों से सम्पृक्त विशेष पुरुष बताया गया है। इसी प्रकार उसकी एक अन्य विशेषता इस प्रकार इस सूत्र में बताते हैं—'**तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजम्**' (सां०द०-

समा० २५) अर्थात् वह ईश्वर सर्वज्ञता के गुण वाला है, अर्थात् उससे कुछ नहीं छुप सकता। अत: ऐसा कार्य न करें, जो उसे पसन्द नहीं।

इसी प्रकार समाधि अवस्था प्राप्ति के विभिन्न उपाय बताते हुए सूत्रकार ने ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर उपासना) को भी प्रमुख माध्यम बताया है- **'ईश्वर प्रणिधानाद्वा'** (यो०द० समा० २३)। इस प्रकार विभिन्न स्थलों पर आस्तिकता का प्रतिपादन करते हुए सूत्रकार ने उपदेश किया है कि मनुष्य पुरुषार्थ के साथ ईश्वर पर विश्वास भी रखे।

विश्व बन्धुत्व भाव का प्रतिपादन

योगदर्शन में जिन यम-नियमादि का वर्णन किया गया है उनकी उपयोगिता मात्र योगियों साधकों के लिए ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण मानव समाज के लिए है। सभी अवस्थाओं में उनका पालन मानव-मानव में प्रेमभाव-भाईचारा बढ़ाकर विश्व बन्धुत्व का भाव विकसित करता है। योगदर्शन के **साधन पाद के इकत्तीसवें सूत्र** में सूत्रकार ने इन साधनों का उपयोग देश, काल, जाति की सीमा से परे व सभी के लिए कल्याणकारी बताया है-

'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम्।'

यम-नियमादि का वैशिष्ट्य

योगदर्शन में अष्टाङ्ग योग के मुख्य लक्ष्य कैवल्य के मुख्य साधन धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन जहाँ महर्षि पतञ्जलि ने २-३ सूत्रों में कर दिया है, वहीं यम-नियम का वर्णन पूरे विस्तार से २०-२५ सूत्रों में किया है। कारण यह है कि ये सम्पूर्ण मानव जाति के कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं; क्योंकि ये मानव के मौलिक कर्त्तव्य हैं, जिनके आधार पर समाज अवस्थित है।

पाँच यम— योग दर्शन में 'पाँच यम' बताये गये हैं। अस्तित्व का बने रहना प्राणिमात्र की प्रथम आवश्यकता है, अत: **अहिंसा** का सिद्धान्त प्रथम यम में बताया गया है।

द्वितीय सामाजिक कर्त्तव्य परस्पर विश्वास और वचन का पालन है, अत: दूसरा यम **सत्य** वर्णित किया गया है।

समाज को सुदृढ़ बनाये रखने के लिए आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने परिश्रम का फल प्राप्त करे और उस पर उसका अधिकार रहे। अत: छीना-झपटी और चोरी आदि की प्रवृत्तियाँ समाज में न पनपें, अत: तीसरा यम **'अस्तेय'** को बताया है।

परिवार के रहते हुए आवश्यक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए विपरीत लिङ्ग के शील की रक्षा हेतु चौथा यम **ब्रह्मचर्य** बताया गया है।

समाज के उत्थान हेतु आवश्यक है कि सभी उचित रीति से धन कमाएँ; किन्तु आवश्यकता से अधिक जमा न करें, अत: पाँचवाँ यम **'अपरिग्रह'** वर्णित किया गया है।

पाँच नियम— पाँच यमों की तरह ही पाँच नियम भी हैं, जिनसे व्यक्तिगत व सामाजिक दोनों ही लाभ होते हैं-

प्रथम नियम **शौच**- (बाहर व भीतर की) स्वच्छता, स्वास्थ्य व व्यक्तित्व दोनों ही दृष्टियों से आवश्यक है। शरीर और मन दोनों स्वस्थ रहेंगे,

तभी शरीर शक्तिशाली और मन मनोबल सम्पन्न बन सकेगा।

दूसरा नियम सन्तोष है। संसार में बहुत से भोग्य पदार्थ हैं, पर क्या हम सभी का उपभोग कर सकते हैं? यदि नहीं, तो आवश्यकता से अधिक पाने के लिए हम क्यों लालायित हों और उनके न मिलने पर क्यों असन्तुष्ट हों? अतः सदैव सन्तुष्ट रहने का स्वभाव बनाकर प्रसन्नता भरा जीवन जिएँ।

तीसरा नियम **तप** है। जीवन सदा एक-सा नहीं रहता। इसमें अनेक उतार-चढ़ाव समय-समय पर आते रहते हैं। अतः कठिनाइयों-परेशानियों को तप मानकर जियें, तो कठिनाइयाँ भी मानव के उत्थान में सहायक बन सकेंगी।

चौथा नियम **'स्वाध्याय'** है। सांसारिक जीवन में सफलता की प्राप्ति हेतु विभिन्न जानकारियाँ होना आवश्यक है। ज्ञानहीन पग-पग पर ठोकरें खाता है। अतः स्वाध्याय आवश्यक है।

पाँचवाँ और अन्तिम नियम **'ईश्वरप्रणिधान'** है। संसार में कुछ भी प्राप्त करने के लिए मनुष्य हर सम्भव प्रयत्न करता है, तो भी कई बार असफलता मिलती है। अतः ईश्वर पर विश्वास रखना चाहिए कि संसार का संचालन ईश्वर के हाथ में है। हमारे भाग्य में जितना होगा, वही मिलेगा। प्रारब्धवश सुख-दुःख आते हैं, उनका नियन्ता वह ईश्वर ही है, अतः ईश्वर प्रणिधान आवश्यक नियम है।

इस प्रकार ऊपर वर्णित यम और नियम न केवल व्यक्तिगत उत्कर्ष के लिए हैं; वरन् सामाजिक उत्थान के लिए भी अत्यावश्यक हैं।

योगदर्शन में पदार्थ विचार

संसार में दो प्रकार के तत्त्व हैं- एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर, एक जड़ और दूसरा चेतन। आभ्यन्तर तत्त्व 'चित्त' है। प्रत्येक दर्शन में इन तत्त्वों की किसी न किसी रूप में सहायता आवश्यक है। साक्षात्कार करने से ही तत्त्वों का विशेष ज्ञान प्राप्त होता है।

योगशास्त्र में केवल बौद्धिक विषयों का विचार है। इनमें वस्तुतः विचार के लिए एक-**मात्र तत्त्व 'चित्त', अर्थात् बुद्धि है, इसी के विविध स्वरूपों का योगशास्त्र में विचार है। इस 'चित्त' की पाँच अवस्थाएँ होती हैं, जिन्हें 'चित्त की भूमि'** कहते हैं। ये हैं — १. क्षिप्त २. मूढ़ ३. विक्षिप्त ४. एकाग्र तथा ५. निरुद्ध।

१. रजोगुण के प्रभाव से 'चित्त' बहुत चञ्चल होकर सांसारिक विषयों में इधर-उधर भटका करता है, उस अवस्था में चित्त को 'क्षिप्त' कहते हैं। जैसे — दैत्य, दानवों का चित्त अथवा धन के मद से उन्मत्त लोगों का चित्त।

२. तमोगुण के उद्रेक से 'चित्त' मूढ़ हो जाता है, जैसे- कोई निद्रा में मग्न हो, तो उसके चित्त को 'मूढ़' कहते हैं। राक्षसों के, पिशाचों के तथा मादक द्रव्य खाकर उन्मत्त पुरुषों के, 'चित्त' 'मूढ़' कहे जाते हैं।

३. सत्त्व के आधिक्य रहने पर भी, रजस् के कारण सफलता और असफलता के बीच में, कभी इधर और कभी दूसरी तरफ चित्त की वृत्ति भटकती **रहती है। कहते हैं कि देवताओं का तथा प्रथम-भूमि में स्थित जिज्ञासुओं का चित्त 'विक्षिप्त' होता** है।

४. विशुद्धसत्त्व के उद्रेक से एक ही विषय में लगे हुए चित्त को 'एकाग्र' कहते हैं। जैसे — निर्वात दीप शिखा स्थिर होकर एक ही ओर रहती है, इधर-उधर नहीं जाती।

५. चित्त की सभी वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर

भी उन वृत्तियों के संस्कार मात्र चित्त में रह जाते हैं। उन संस्कारों से युक्त चित्त 'निरुद्ध' कहा जाता है।

'चित्त' त्रिगुणात्मक है। तीनों गुणों के उद्रेक क्रमशः समय-समय पर चित्त में होते रहते हैं। उसके अनुसार 'चित्त' के भी तीन रूप होते हैं। प्रख्या, प्रवृत्ति तथा स्थिति।

'चित्त' जड़ है और 'पुरुष' चेतन है। अनादि अविद्या के कारण 'पुरुष' और 'प्रकृति' में परस्पर एक प्रकार का अभेद सम्बन्ध हो जाता है। इससे बुद्धि की वृत्तियों का पुरुष में आरोप होता है और 'मैं शान्त हूँ, दुःखी हूँ तथा मूढ़ हूँ' इस प्रकार के ज्ञान पुरुष में उदित होते हैं। बुद्धि की विषयाकार वृत्तियाँ पुरुष में प्रतिबिम्बित होती हैं, वही 'पुरुष की वृत्ति' कही जाती है। पुरुष का प्रतिबिम्ब 'चित्त' पर पड़ता है। उससे 'चित्त' भी अपने को चेतन के समान समझने लगता है और चेतन की तरह कार्य करने लगता है, यही चित्त की वृत्ति है। ये वृत्तियाँ जब धर्म, अधर्म तथा वासनाओं की उत्पत्ति की कारण होती हैं, तब वे क्लेश देती हैं और 'क्लिष्ट' कही जाती हैं। ये जब ख्याति की देने वाली होती हैं, तब वे 'अक्लिष्ट' कहलाती हैं। इन वृत्तियों से 'संस्कार' होते हैं और 'संस्कार' से 'वृत्तियाँ' होती हैं। इस प्रकार 'वृत्ति-संस्कार-चक्र' अहर्निश चलता रहता है।

ये वृत्तियाँ पाँच प्रकार की होती हैं — 'प्रमाण' 'विपर्यय' 'विकल्प' 'निद्रा' तथा 'स्मृति'। इन्हीं में चित्त की अन्य सभी वृत्तियाँ अन्तर्भूत हैं।

इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

प्रमाण — सांख्य की तरह योग में भी 'प्रत्यक्ष' 'अनुमान' और 'शब्द' ये तीन 'प्रमाण' हैं।

विपर्यय — किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान को 'विपर्यय' कहते हैं।

विकल्प — शब्द ज्ञान से उत्पन्न होने वाला; किन्तु वस्तु शून्य अर्थात् जिस वस्तु का ज्ञान हो, उस वस्तु का अत्यन्त अभाव रहे, ऐसे ज्ञान को 'विकल्प' कहते हैं; जैसे—'**चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपम्**' (चैतन्य पुरुष का स्वरूप है)। यहाँ यह जानना चाहिए कि 'चैतन्य' ही तो 'पुरुष' है, फिर किसका स्वरूप? 'पुरुष' और 'चैतन्य' में भेद का भान क्यों? यह तो वास्तविक नहीं है। 'चैतन्य' को 'पुरुष' से पृथक् समझना 'विकल्प' है।

निद्रा— किसी वस्तु के अभाव ज्ञान को आलम्बन करने वाली वृत्ति 'निद्रा' है। सोकर उठने वाले पुरुष को 'जाग्रत्' अवस्था में 'मैं खूब सोया', 'मेरा मन शान्त है,' 'मैंने कुछ नहीं समझा' इत्यादि बोध होते हैं। इसलिए 'निद्रा' को भी 'वृत्ति' कहते हैं।

स्मृति — अनुभूत किये विषयों का, ठीक-ठीक वैसा (असम्प्रमोष) ही स्मरण होना 'स्मृति' है।

ये ही वृत्तियाँ कार्य उत्पन्न कर, सूक्ष्म रूप से 'संस्कार' के रूप में, हमारे अन्तःकरण में रहती हैं। समय पाकर 'सादृश्य' आदि के द्वारा उद्बुद्ध होने से ये संस्कार पुनः 'वृत्ति' का रूप धारण करते हैं। यह चक्र सतत चलता रहता है।

इन्हीं वृत्तियों के निरोध से क्रमशः तत्त्वज्ञान होता है और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। इन्हीं वृत्तियों का निरोध करना 'योग' है।

योग दर्शन में ऋतम्भरा प्रज्ञा का वैशिष्ट्य

पातञ्जल योग दर्शन का एक वैशिष्ट्य यह भी है कि इसमें गूढ़ विद्या प्रकाशित हुई है, तो उसमें अन्ध-श्रद्धा और शब्द प्रमाण को अत्यधिक महत्त्व नहीं दिया गया है। सभी योग साधनाओं का प्रतिफल समाधि को तथा समाधि का भी फल ऋतम्भरा-प्रज्ञा (दूरदर्शी-विवेक शीलता) को बताया गया है। समाधि पाद में महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है-'**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा**' (यो०द० समा०

४८)। इसका तात्पर्य यह है कि इससे पूर्व के सूत्रों में निर्वितर्क, सवितर्क, सविकार और निर्विकार समाधियों की प्राप्ति होती है जिसके फलस्वरूप अध्यात्म प्रसाद के रूप में निर्मल ज्ञान के रूप में ऋतम्भरा (सत्य को धारण करने वाली बुद्धि)-प्रज्ञा प्राप्त होती है।

उपसंहार

योगदर्शन के सन्दर्भ में यहाँ तक के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका होगा कि योगदर्शन के सिद्धान्त अति प्राचीन हैं। उसके व्यावहारिक वैशिष्ट्य के कारण उसका प्रसार दुनिया के सुदूर भागों में भी पाया जाता है। साथ ही उसका प्रभाव अन्य धर्मों, मत-मतान्तरों पर भी पड़ा है। इसी कारण उनकी पूजा-पद्धतियों में भी कुछ-कुछ ऐसी क्रियायें जुड़ी हैं, जो योग से मिलती जुलती हैं। जैसे- नमाज पढ़ते समय विभिन्न आसन आदि। जैसा कि पीछे भी लिखा जा चुका है कि योग जहाँ पुरुषार्थ को महत्त्व देता है, वहीं ईश्वर के प्रति आस्था रखने का भी संदेश देता है। ईश्वर के स्वरूप के सम्बन्ध में भी योग ने अपना मत स्पष्ट व्यक्त किया है। जो अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक बोधगम्य है। इस प्रकार इसका अध्ययन, चिन्तन, मनन एवं प्रयोग करके व्यक्ति अपना क्रमिक उत्कर्ष करते हुए उच्च स्थिति तक पहुँच सकता है।

॥ अथ योगदर्शनम् ॥

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष के भेद का ज्ञान (साक्षात्कार) होने को 'मोक्ष' कहा गया है। इसे ही 'प्रकृति पुरुष विवेक' कहते हैं; किन्तु यह ज्ञान केवल शाब्दिक होने से 'मोक्ष' नहीं मिलता। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए जिन साधनों की आवश्यकता है, उनका विवरण प्रस्तुत करने के लिए इस योगदर्शन का शुभारम्भ किया जाता है।

॥ अथ समाधिपादः ॥

(१) अथ योगानुशासनम्॥ १ ॥

सूत्रार्थ— अथ = अब, योगानुशासनम् = योग विषयक शास्त्र अथवा ग्रन्थ (योग-अनुशासन सम्बन्धी ग्रन्थ) का आरम्भ करते हैं।

व्याख्या— इस प्रथम सूत्र में महर्षि पतञ्जलि ने 'अथ' मंगलवाची शब्द प्रयुक्त करके ग्रन्थ के आरम्भ का संकेत दिया है। चूँकि प्रथम पाद समाधि पाद है, अतः 'अथ' शब्द से उनका संकेत 'समाधि' सम्बन्धी वर्णन से है। अनुशासन शब्द से योग की अनादिता (अनादिकाल से चली आ रही परम्परा) वर्णित की गई है। आत्मबोध के लिए योग ही सर्वोत्तम साधन है। योग के लिए किसी बाह्य वस्तु की आवश्यकता नहीं है। मात्र शारीरिक श्रम एवं संयम साधना द्वारा मोक्ष-सुख की अनुभूति हो सकती है। योग के विभिन्न साधन हैं, तदनुरूप उनके नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। जैसे ध्यान-योग, ज्ञान-योग, कर्म-योग, राज-योग, सांख्य-योग, हठ-योग आदि॥ १ ॥

महर्षि पतञ्जलि ने राज-योग से ही शुरू किया है; क्योंकि इसमें समस्त योग समाविष्ट है। अनुशासन शब्द का भाव उपर्युक्त सूत्र में यह है कि वेदों-शास्त्रों में वर्णित योग अनादिकाल से चला आया है। अब सूत्र रूप में उसका व्यावहारिक स्वरूप जन सामान्य के कल्याणार्थ प्रस्तुत किया जा रहा है। इस शब्द का दूसरा भाव यह है कि एक निश्चित अनुशासन का पालन करके साधक आत्म-तत्त्व बोध के अधिकारी बन सकेंगे। अब अगले सूत्र में योग की परिभाषा बता रहे हैं-

(२) योगश्चित्त वृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥

सूत्रार्थ — चित्तवृत्तिनिरोधः = चित्तवृत्तियों का सर्वथा रुक जाना अथवा नियन्त्रित हो जाना, योगः = योग है।

व्याख्या — चित्त की चेष्टाओं को बहिर्मुखी बनने से रोककर उन्हें अन्तर्मुखी करना तथा आध्यात्मिक चिन्तन में लगाना ही वृत्तियों का निरोध कहलाता है और इसी को योग कहते हैं। मानवीय चित्त गहरे जल की तरह है। जिस प्रकार पानी पृथ्वी (स्थान विशेष) के संयोग से कहीं खारा (लवणयुक्त), कहीं मृदु (मीठा) हो जाता है, उसी प्रकार चित्त भी राग-द्वेषादि से परिवर्तित होता रहता है। जिस प्रकार पवन के वेग से जल में लहरें उठती रहती हैं, उसी प्रकार चित्त, इन्द्रियों के माध्यम से लौकिक विषयों से आकृष्ट होकर परिवर्तित होता रहता है। इन परिवर्तित आकारों को ही चित्त की वृत्तियाँ कहते हैं। चित्त की वृत्तियाँ अनन्त हैं और हर समय उत्पन्न होती रहती हैं। जब वायु की तीव्रता समाप्त हो जाती है, तब लहरें विनष्ट हो जाती हैं और जल अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, उसी तरह चित्त यौगिक क्रियाओं द्वारा

बाहरी-भीतरी परिणामों का परित्याग कर अपने निज रूप में स्थित हो जाता है। इसी प्रक्रिया को चित्त-वृत्तियों का निरोध कहा जाता है।

चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं- १. मूढ़ २. क्षिप्त ३. विक्षिप्त ४. एकाग्र और ५. निरुद्ध। इनमें प्रत्येक का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

१. मूढ़ अवस्था— इस अवस्था में निद्रा, तन्द्रा, भय, मोह, आलस्य, दैन्य आदि में ही मनुष्य की प्रवृत्ति होती है; इसका कारण काम, क्रोध, लोभ और मोह होता है। इस अवस्था में तमस् प्रधान रहता है, जिससे यह स्थिति अधम मनुष्यों की मानी जाती है।

२. क्षिप्त अवस्था— इस अवस्था में धर्म-अधर्म, राग-विराग, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य तथा ज्ञान-अज्ञान में प्रवृत्ति होती है। इसमें रजोगुण प्रधान होता है तथा इसका कारण राग-द्वेष होता है। प्राय: साधारण संसारी मनुष्यों की यह स्थिति होती है।

३. विक्षिप्तअवस्था— इस अवस्था में ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि में प्रवृत्ति होती है। चेहरे पर प्रसन्नता, क्षमा, धैर्य, श्रद्धा, दान, दया और ओजस् दिखाई पड़ता है। इस अवस्था में प्रधानता तो सतोगुण की रहती है; परन्तु साथ में रजोगुण भी रहकर अपना कार्य करता रहता है, जिससे चित्त में विक्षेप भी रहता है, इसीलिए इस अवस्था को विक्षिप्त अवस्था कहते हैं। इसका कारण कर्मयोग है। यह अवस्था उन जिज्ञासुओं की होती है, जो अध्यात्म पथ के पथिक बनने की भावना रखते हुए उस पर चलने को प्रयत्नशील रहते हैं।

४. एकाग्र अवस्था— जब रजोगुण और तमोगुण के विक्षेप रुक जाते हैं और वृत्तियों का प्रवाह एक ही दिशा में बना रहता है तथा सतोगुण की प्रधानता से चित्त निर्मल स्फटिक मणि के समान पवित्र और स्थिर हो जाता है, तब उस अवस्था को एकाग्र अवस्था कहते हैं। इस अवस्था में पूर्व में अनुभूत बाह्य विषयों के संस्कार अवश्य बने रहते हैं, जो कभी आकस्मिक रूप से जाग्रत् होकर कभी-कभी (साधना में) विघ्न उपस्थित करते रहते हैं; किन्तु प्राय: चित्त एकाग्र ही रहता है, जिससे साधक को अणु-परमाणुओं से लेकर महत्तत्त्व पर्यन्त ग्राह्य, ग्रहण, गृहीता समस्त विषयों का साक्षात्कार हो जाता है। चित्त की इसी स्थिति को सम्प्रज्ञात योग या सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं। यह अवस्था योगियों की होती है।

५. निरुद्ध अवस्था— एकाग्र अवस्था में साधक को आत्मा और चित्त के भेद का साक्षात् ज्ञान हो जाता है। योगी की यह स्थिति 'विवेक ख्याति' है; किन्तु त्रिगुण का परिणाम होने से यह अवस्था भी सुख-दु:ख रूप है, इसलिए योगी इससे भी विरक्त होकर इसका भी परित्याग करके निरोध की अवस्था में पहुँच जाता है, जिससे संस्कारों के बीज रहते हुए भी उनको जाग्रत् करने में वह असमर्थ रहता है। यही चित्त की निरुद्ध अवस्था है। इसमें चित्त आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है, जिससे अविद्या आदि पाँचों क्लेश नष्ट होकर कर्माशय रूप जन्मादिकों के बीज भी नहीं रहते, इसको असम्प्रज्ञातयोग (असम्प्रज्ञात समाधि) अथवा निर्बीज समाधि भी कहते हैं॥ २॥

जब वृत्तियाँ अवरुद्ध हो जाती हैं, तब क्या स्थिति होती है? इसका वर्णन अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(३) तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ ३॥

सूत्रार्थ— द्रष्टु: = देखने वाले (द्रष्टा) का, तदा = उस समय, स्वरूपे = अपने स्वरूप में, अवस्थानम् = अवस्थान हो जाता है (स्थिति हो जाती है)।

व्याख्या— जिस प्रकार तेज हवा चलते समय पानी में विभिन्न लहरें उत्पन्न होती रहती हैं और

हवा रुक जाने पर लहरें उत्पन्न होनी बन्द हो जाती हैं, उसी प्रकार जब चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, तब चित्त के कर्तापन के अभिमान की निवृत्ति हो जाती है अर्थात् चित्त का यह भाव नहीं रहता कि 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दु:खी हूँ', 'मैं कर्त्ता हूँ' आदि। इस प्रकार अभिमान की निवृत्ति हो जाती है, जिससे वृत्ति रूप परिणाम होना भी बन्द हो जाता है, तब आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप का दर्शन होने लगता है। इसी को आत्म दर्शन और कैवल्य की स्थिति कहते हैं॥ ३॥

निरुद्ध अवस्था से भिन्न व्युत्थान अवस्था में पुरुष के स्वरूप का वर्णन करते हुए सूत्रकार अगले सूत्र में निर्देश करता है-

(४) वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ४॥

सूत्रार्थ— इतरत्र = दूसरी अवस्था में (द्रष्टा), वृत्ति सारूप्यम् = वृत्तियों के समान रूप वाला (प्रतीत होता है)।

व्याख्या— जब वृत्तियाँ सक्रिय रहती हैं, उस अवस्था को 'व्युत्थान' कहते हैं। उस स्थिति में आत्मा अपने को निज चित्त के अनुरूप ही मानता है। उसकी जैसी कल्पना होती है, अर्थात् अपने को वह ज्ञानी, सुखी, दीन-हीन, ऊँच-नीच जैसा समझता है, वैसा ही मानता है। जिस प्रकार शीशे के समक्ष रखी वस्तु उसमें परिलक्षित होती है, उसी प्रकार आत्मा के दर्पण में वृत्तियों की उपस्थिति से वह (आत्मा) उसी प्रकार का भासित होने लगता है, ऐसा मानना भ्रम मात्र है; परन्तु आत्मा इस स्वभाव से उसी प्रकार नहीं गिरती, जिस प्रकार गुड़हल के पुष्प के निकट रखा स्फटिक मणि (पुष्प के प्रभाव से) रक्तवर्ण वाला प्रतीत होता है; किन्तु उसकी स्वाभाविक शुभ्रता (सफेदी) दूर नहीं होती। चित्त वृत्तियों के निरोध से 'मुक्ति' तथा व्युत्थान (वृत्तियों के न रुकने) से 'बन्धन' होता है। अस्तु, समाधि के माध्यम से बन्धन मुक्त होने के लिए चित्त वृत्तियों को निरुद्ध करके आध्यात्मिक विषय में प्रवृत्त होना चाहिए। इससे भव-बन्धन से निवृत्त होकर साधक आत्मानन्द का अनुभव कर सकता है॥ ४॥

वृत्तियों का विश्लेषण कर उन्हें पाँच भागों में विभक्त कर आगे बताते हैं-

(५) वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः॥ ५॥

सूत्रार्थ— वृत्तयः = वृत्तियाँ, पञ्चतय्यः = पाँच तरह की हैं जो, क्लिष्टाऽक्लिष्टाः = क्लिष्ट और अक्लिष्ट (अर्थात् दु:ख की उत्पादक और दु:ख का विनाश करने वाली) हैं।

व्याख्या— कुछ वृत्तियाँ तमोगुण प्रधान होती हैं, जो राग, द्वेष, अविद्या, आदि क्लेशों की वृद्धि करने वाली तथा योग साधना में विघ्न उत्पन्न करने वाली होती हैं, इन्हें क्लिष्ट वृत्तियाँ कहते हैं। इसी प्रकार कुछ वृत्तियाँ सतोगुण प्रधान होती हैं, इन्हें अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहते हैं। ये अक्लिष्ट वृत्तियाँ उपर्युक्त क्लेशों की शामक तथा योग साधना में सहायक होती हैं। सर्वप्रथम अक्लिष्ट वृत्तियों को ग्रहण करके इनकी सहायता से क्लिष्ट वृत्तियों का निरोध करे, तत्पश्चात् 'पर वैराग्य' से वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ भी निरुद्ध हो जाती हैं और योग साधना का उद्देश्य पूर्ण हो जाता है। यह सत्य है कि क्लिष्ट वृत्तियों के संस्कार बहुत गहराई तक जड़ जमाये होते हैं, फिर भी वेद-शास्त्रों एवं गुरुजनों के उपदेशों से वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ जो छिपी रहती हैं, पुन: जाग्रत् हो जाती हैं। वस्तुत: यह वृत्तियों का स्वभाव ही है कि क्लिष्ट वृत्तियाँ क्लिष्ट संस्कारों का तथा अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारों का प्रादुर्भाव करती हैं। इसी प्रकार जो जाग्रत् हैं, ऐसी अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट संस्कारों का और अक्लिष्ट संस्कार अक्लिष्ट वृत्तियों का प्रादुर्भाव करते हैं। जब यह चक्र निरन्तर चलता रहता है, तब एक समय ऐसा आता है,जब क्लिष्ट वृत्तियों का शमन हो जाता है; किन्तु इनके संस्कार सूक्ष्म रूप में अक्लिष्ट वृत्तियों के मध्य विद्यमान रहते हैं, इनका समापन भी निर्बीज समाधि

से हो जाता है। जो अक्लिष्ट वृत्तियाँ रह जाती हैं, उनका भी पर वैराग्य से निरोध हो जाता है। जब वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, तब असम्प्रज्ञात योग की सिद्धि होती है॥ ५॥

(६) प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ ६॥

सूत्रार्थ— प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः = योग शास्त्र में प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति (ये पाँच वृत्तियाँ हैं)।

व्याख्या— प्रमाण अर्थात् सत्यज्ञान, विपर्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान, विकल्प अर्थात् मन की कल्पना, निद्रा तथा स्मृति ये पाँच प्रकार की वृत्तियाँ योग दर्शन में बताई गयी हैं॥ ६॥

उपर्युक्त पाँचों वृत्तियों के भेद अगले सूत्रों में वर्णित किये गये हैं-

(७) प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥ ७॥

सूत्रार्थ— प्रत्यक्षानुमानागमाः = प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम (वेद-शास्त्रादि), प्रमाणानि = प्रमाण हैं।

व्याख्या— प्रमाण वृत्ति के तीन प्रकार हैं। १. प्रत्यक्ष २. अनुमान ३. आगम (वेद-शास्त्रादि)। इनमें प्रत्येक को संक्षेप में इस प्रकार समझना चाहिए-

१. प्रत्यक्ष— मन, बुद्धि और इन्द्रियादि के माध्यम से जिन पदार्थों का प्रत्यक्षतः अनुभव होता है, जिनके विषय में कोई संदेह नहीं रहता, वे प्रत्यक्ष कहलाते हैं तथा यह अनुभूति प्रत्यक्षानुभूति है।

२. अनुमान— प्रत्यक्ष पदार्थों पर आधारित तर्क और तथ्यों द्वारा जिस प्रक्रिया से किसी वस्तु या पदार्थ के अस्तित्व का ज्ञान हो, उसे अनुमान कहते हैं। जैसे उठते हुए धुएँ को देखकर यह अनुमान लगाया जाता है कि यहाँ अग्नि अवश्य होगी; क्योंकि अग्नि के बिना धुआँ उठने का कोई प्रश्न ही नहीं है। इसी प्रकार प्रत्यक्षतः वर्षा दिखाई न देने पर भी यदि नदियों में बाढ़ दिखाई पड़ती है, तो इसे किन्हीं उन दूर-दराज के क्षेत्रों में वर्षा होने का अनुमान लगाया जाता है, जहाँ से होकर नदियाँ आई हैं।

३. आगम— वेद-शास्त्रों और यथार्थ वक्ता पुरुषों के वचनों को आगम कहते हैं। जो पदार्थ मानवीय इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष अनुभूत नहीं हैं और न जिनके बारे में अनुमान लगाना सम्भव है, उनके स्वरूप का ज्ञान वेद-शास्त्रों और आप्त पुरुषों के वचनों द्वारा प्राप्त किया जाता है, यही आगम है।

इनमें भी जिन प्रत्यक्ष दर्शन से संसार की नश्वरता का ज्ञान होकर उनमें दुःखानुभूति का अनुमान करके संसार के पदार्थों से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है तथा जिनसे योग साधन में प्रवृत्ति और उत्साह बढ़ता है। वे आगम से होने वाली अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं तथा जिन प्रत्यक्ष दर्शन से मानव को जगत् के पदार्थ नित्य लगते हैं तथा उनके प्रति आसक्ति हो जाती है तथा जिनसे वैराग्य विरोधी भाव प्रबल होते हैं,वे 'क्लिष्ट वृत्तियाँ' कहलाती हैं। इस प्रकार अनुमान-वृत्तियाँ भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट होती हैं॥ ७॥

अब विपर्यय वृत्ति का वर्णन किया जा रहा है-

(८) विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८॥

सूत्रार्थ— अतद्रूपप्रतिष्ठम् = जो उस पदार्थ के रूप में प्रतिष्ठित नहीं है, इस प्रकार का, मिथ्याज्ञानम् = झूठा ज्ञान, विपर्ययः = विपर्यय है।

व्याख्या— किसी भी वस्तु या पदार्थ की जो स्थिति नहीं है, फिर भी मिथ्याज्ञान (भ्रम) के कारण वैसी मान लेना विपर्यय वृत्ति कहलाती है। भावार्थ यह है कि जिस ज्ञान से वस्तु का यथार्थ रूप प्रकाशित होता है, वह सत्य ज्ञान है; किन्तु जहाँ वस्तु कुछ और हो तथा चित्त की वृत्ति अन्य प्रकार की हो,

वहाँ चित्त की वृत्ति उस वस्तु या पदार्थ में यथार्थ ज्ञान वाली नहीं होती, यही विपरीतज्ञान है। जैसे-दूरस्थ स्थल से चमकती हुई सीप को रजत (चाँदी) समझ लेना तथा अन्धकार में पड़ी रज्जु (रस्सी) को सर्प समझ लेना, इसी प्रकार अँगुली से आँख दबाने पर चन्द्रमा एक के दो दिखाई देने लगने को सत्य मान लेना आदि। इसी विपर्यय वृत्ति के कारण जड़ शरीर चैतन्य आत्मा प्रतीत होता है, जिसके कारण अनेक विपत्तियाँ उठानी पड़ती हैं। इस विपर्यय ज्ञान के भी पाँच प्रकार हैं-

१. अविद्या २. अस्मिता ३. राग ४. द्वेष और ५. अभिनिवेश।

यही पाँच प्रकार के क्लेश भी कहलाते हैं, जिनका वर्णन योग दर्शन साधन पाद के तृतीय सूत्र में किया जायेगा। इन्हें ही सांख्य दर्शन में तम, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र आदि कहा जाता है। दु:ख में सुख, अपवित्र में पवित्र, अनात्मा में आत्मा का भाव होना ही अज्ञान कहलाता है। बुद्धि में आत्मबुद्धि का होना ही 'अस्मिता' है, सुखेच्छा लोभ की वृत्ति 'राग' कहलाती है, सुख-साधनों में विघ्न उत्पन्न करने वाले व्यक्तियों के प्रति घृणा करना 'द्वेष' है तथा मृत्यु से डरने की वृत्ति अभिनिवेश कहलाती है॥ ८॥

अब विकल्प वृत्ति का वर्णन किया जायेगा-

(९) शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥

सूत्रार्थ— शब्दज्ञानानुपाती = जो शब्द और ज्ञान के अनुसार उभरती है, ऐसी चित्त वृत्ति, वस्तुशून्य: = जो विषयगत वस्तु से शून्य हो तो, विकल्प: = वह विकल्प कहलाती है।

व्याख्या— शब्द के आधार पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है और जिसका विषय वास्तव में नहीं है, वह 'विकल्प' कहलाता है। इसे इस प्रकार भी कहा जा सकता है कि मात्र शब्द के आधार पर वास्तविकता की कल्पना करने वाली चित्तवृत्ति-विकल्प वृत्ति है। जिस प्रकार कहीं यह लिखा हो कि 'गधे के सींग', तो यह वाक्य देखकर कोई यह मान ले कि गधे के सींग होते हैं, जबकि वस्तुत: कभी गधे के सींग नहीं होते हैं। इसी प्रकार से कोई यह लिखा देखकर कि 'बाँझ का पुत्र', यह मान ले कि बाँझ के पुत्र होता है, तो यह विकल्प वृत्ति कहलायेगी; क्योंकि वस्तुत: जो बाँझ है, उसके पुत्र होना सम्भव ही नहीं है। इस प्रकार सुनी हुई असत्य बात को भी सच मान लेना विकल्प वृत्ति हुई। विकल्प वृत्तियाँ भी क्लिष्ट-अक्लिष्ट होती हैं। जैसे 'गधे के सींग' लिखा देखकर उसी प्रकार के गधे की खोज करने लगना क्लिष्ट वृत्ति कहलाएगी; क्योंकि वैसा होता नहीं और उसे ढूँढ़ने में व्यर्थ ही श्रम-समय लगेगा, जिससे क्लेश होगा। इसी प्रकार किसी भक्त द्वारा सुने हुए तथ्य के आधार पर भगवान् का कोई रूप मान लेना और उसी का ध्यान करके ईश्वर का साक्षात्कार कर लेना अक्लिष्ट वृत्ति होगी; क्योंकि उससे मन: शान्ति मिलेगी। पर वस्तुत: वह रूप वेदोक्त नहीं है; क्योंकि ईश्वर तो निराकार है।

अब अगले सूत्र में निद्रा वृत्ति विवेचित की जा रही है-

(१०) अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १०॥

सूत्रार्थ— वृत्ति: = जो वृत्ति, अभाव प्रत्ययालम्बना = अभाव के ज्ञान का अवलम्बन करने वाली है, निद्रा = वह निद्रा वृत्ति कहलाती है।

व्याख्या— जब निद्रा की स्थिति होती है, उस समय किसी बाह्य विषय का ज्ञान नहीं रहता। इसीलिए कहा जाता है कि सोने के समय हुई बातों का कोई ज्ञान नहीं है। इस ज्ञान के न होने का नाम ही निद्रा है। जिस प्रकार सोकर जागने के पश्चात् कोई व्यक्ति कहता है कि मैं ऐसे सुख से सोया कि उस समय क्या-क्या हुआ मुझे पता ही नहीं चला। वस्तुत: निद्रा भी चित्त की ही एक वृत्ति-विशेष है। पर कई विद्वान्

निद्रा को चित्त वृत्ति स्वीकार नहीं करते; किन्तु योगाचार्य (महर्षि पतञ्जलि) साधना में चित्त की हर अवस्था को वृत्ति मानते हैं। स्थिति भेद से निद्रा भी क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार की है। निद्रा से जागने पर यदि मन में सतोगुणी भाव जाग्रत् हों तथा आलस्य दूर हो जाये, वह अक्लिष्ट निद्रा है तथा जिससे जागने पर तमोगुणी भाव पैदा हों और योग-साधना में विघ्न उत्पन्न हों, तो वह निद्रा क्लिष्ट कहलायेगी॥ १०॥

अब स्मृति का वर्णन किया जाता है-

(११) अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः॥ ११॥

सूत्रार्थ— अनुभूतविषयासम्प्रमोषः (अनुभूत-विषय-असम्प्रमोषः) = पहले अनुभव किये गये विषय का छिपा न रहना अर्थात् प्रकट हो जाना, स्मृतिः = स्मृति कहलाती है।

व्याख्या— ऐसे विषय जो देखे हुए, सुने हुए अथवा अनुभव में आये हुए अर्थात् प्रमाण वृत्ति, विपर्यय वृत्ति, विकल्प वृत्ति और निद्रा वृत्तियों के द्वारा जो विषय अनुभूत हुए हों, वे बीज रूप में मस्तिष्क में स्थित रहते हैं तथा जैसे ही उनका पुनः प्रसङ्ग आता है, वे याद हो जाते हैं, चित्त की इसी प्रक्रिया को स्मृति कहते हैं। स्मृति के भी दो प्रकार हैं-अक्लिष्ट और क्लिष्ट। जिस प्रकार की स्मृति से मनुष्य भोगों से विरक्त होता है तथा योग साधना में श्रद्धा और उत्साह बढ़ता है तथा आत्मबल में वृद्धि होती है, वह अक्लिष्ट स्मृति वृत्ति है तथा जिस स्मृति से भोग-पदार्थों में आसक्ति उत्पन्न होती है, वह क्लिष्ट स्मृति वृत्ति है। अस्तु, आवश्यक है कि योग में सभी प्रकार की चित्त-वृत्तियों का निरोध हो। जब तक चित्त की वृत्तियों का निरोध न किया जायेगा, तब तक योगी नहीं हुआ जा सकता॥ ११॥

अब वृत्तियों को निरुद्ध करने के उपायों पर प्रकाश डाला जा रहा है-

(१२) अभ्यांसवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

सूत्रार्थ— तन्निरोधः = उनका निरोध(चित्त वृत्तियों का निरोध),अभ्यासवैराग्याभ्याम् = अभ्यास और वैराग्य से होता है।

व्याख्या— तमोगुण के संसर्ग से जो वृत्तियाँ नींद, अनुत्साह और आलस्य उत्पन्न करती हैं, वे अभ्यास के द्वारा रुक जाती हैं। रजोगुण की बहुलता से चित्त में चंचलता, राग-द्वेष तथा सांसारिक विषयों की कामना आदि की वृत्तियाँ (वैराग्य द्वारा उन विषयों में घृणा भाव उत्पन्न होने से) उसी प्रकार अन्तर्मुखी होकर विलीन हो जाती हैं, जिस प्रकार ईंधन के समाप्त हो चुकने (जल चुकने) पर अग्नि स्वतः समाप्त हो जाती है। इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट होता है कि अभ्यास और वैराग्य के द्वारा चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं; किन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि अभ्यास और वैराग्य दोनों ही चाहिए। केवल एक के होने से उसी प्रकार चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध नहीं होतीं, जिस प्रकार एक पहिए से रथ नहीं चल सकता। गीता में मन को वश में करने के क्रम में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन से कहा है कि **'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'** (गीता-६.३५) अर्थात् मन को वश में करने के लिए अभ्यास और वैराग्य दोनों ही आवश्यक हैं।

एक सन्त ने चित्त विषयक उदाहरण इस प्रकार दिया है- चित्त एक नदी की तरह है, जिसमें वृत्ति रूपी बहाव ही जल है। इस नदी में दो धाराएँ हैं, जिनमें से एक संसार सागर में और दूसरी कल्याण सागर में जाकर मिलती है। दोनों धाराओं के कारण-स्वरूप पूर्व सञ्चित प्रबल दुष्कृत्य और सुकृत्य हैं। जिन मानवों के संस्कार लौकिक विषयों के भोग-भोगने के लिए हैं, उनकी वृत्तियों की धारा उस प्रकार के संस्कारों के कारण सुख-दुःख रूपी विषय पथ द्वारा संसार सागर में मिल जाती है, इसी प्रकार जिनने

कैवल्य के निमित्त कार्य किये हैं, उन लोगों की मनोवृत्तियों की धारा संस्कारों के माध्यम से विवेक मार्ग से प्रवहमान होकर कल्याण सागर में जा मिलती है। जो मनुष्य विषयासक्त हैं, उनके लिए पहली धारा संत वचनों तथा शास्त्रों द्वारा खुलती है। पहली धारा वैराग्य के बाँध से रुकती है तथा दूसरी धारा का मार्ग अभ्यास की गहरी खाई खोदकर वृत्तियों के प्रवाह को विवेक के स्रोत में गिरा दिया जाता है, इस प्रकार उसका बहाव तीव्र वेग से कल्याण के सागर में विलीन हो जाता है। यह क्रम उसी प्रकार चलता है, जिस प्रकार किसी नदी के बाँध से दो नहरें निकली हों, उनमें से एक नहर के जल को रोककर और दूसरी को नहर में छोड़ दिया जाता है, तब प्रथम नहर सूख जाती है। भावार्थ यह है कि उपर्युक्त क्रम की तरह ही अभ्यास और वैराग्य के द्वारा दुःखद चित्त वृत्तियों को लौकिक विषयों से मोड़कर कल्याण मार्ग में प्रवृत्त करते हैं॥ १२॥

अब अभ्यास पर प्रकाश डाला जा रहा है -

(१३) तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३॥

सूत्रार्थ— तत्र = वहाँ (उन दोनों में से), स्थितौ = चित्त की स्थिरता के लिए, यत्नः = जो प्रयास किया जाता है, उसे; अभ्यासः = अभ्यास कहते हैं।

व्याख्या- चित्त की स्थिरता के लिए जो निरन्तर प्रयत्न किया जाता रहता है, वह अभ्यास कहलाता है। इसे इस प्रकार समझा जा सकता है कि चित्त रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों से सदा चञ्चल रहते हुए विषयों में रमण करता रहता है; किन्तु जब चित्त में सतोगुण उभरता है, तब चित्त की चञ्चलता दूर हो जाती है और चित्त शान्त आत्मधारा में प्रवाहित होता है। इसी दशा का नाम 'स्थिति' अथवा एकाग्रता है। इस स्थिति को सतत बनाये रखने के लिए जो परिपूर्ण इच्छाशक्तिपूर्वक निरन्तर प्रयत्न किया जाता है, उसी का नाम अभ्यास है। योग के जो आठ अङ्ग-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं, यही इस अभ्यास के स्वरूप हैं। जगत् के महान् से महान् और कठिन से कठिन कार्य भी अभ्यास से पूरे हो जाते हैं। अभ्यास से मनुष्य ही नहीं, पशु-पक्षी तक असम्भव कार्य कर डालते हैं। यह सत्य है कि पूर्व संचित बहिर्मुखी संस्कार इस अभ्यास में बाधा पहुँचाते हैं; किन्तु संकल्पपूर्वक अभ्यास से धीरे-धीरे वे भी शमित (शांत) हो जाते हैं और समाधि अवस्था की सिद्धि हो जाती है॥ १३॥

(१४) स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥ १४॥

सूत्रार्थ— तु = किन्तु, सः = वह अभ्यास, दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितः = लम्बे समय तक निरन्तर और सत्कारपूर्वक अङ्ग-उपाङ्ग सहित सेवित होने (सेवन किये जाने) पर, दृढ भूमिः = दृढ़ स्थिति वाला होता है।

व्याख्या— चित्त तीव्र वायु के समान है। जिस तरह वायु पुष्प संसर्ग से सुगन्धित हो जाती है और सड़े पदार्थों के संसर्ग से दुर्गन्ध पूर्ण हो जाती है, ठीक उसी तरह ही राग-द्वेष, काम-क्रोध, लोभ-मोह, भय आदि प्रपञ्चों में पड़कर चित्त परिवर्तित होता रहता है। साथ ही इन्द्रियों द्वारा बाहरी विषयों से आकर्षित होकर उन्हीं के आकार में परिवर्तित होता रहता है। ये सभी चित्त की वृत्तियाँ कही जाती हैं। इनका अन्त नहीं, ये हर क्षण उत्पन्न होती रहती हैं। जिन वृत्तियों के संस्कार अनादि जन्मों से बीज रूप में चित्त में पड़कर चले आ रहे थे, उन्हें कम समय में अवरुद्ध कर पाना असम्भव है; क्योंकि थोड़ी ढील हो जाने पर विषय-वासनाएँ पुनः मानव को अपनी ओर आकर्षित कर लेती हैं। इसी कारण महर्षि

पतञ्जलि ने प्रस्तुत सूत्र में तीन विशेषण प्रयुक्त किये हैं-
१. 'दीर्घ काल' २. 'नैरन्तर्य' ३. 'सत्कारासेवित'। इनका भाव अर्थ है- लम्बे समय तक चित्त की वृत्तियों को अभ्यास द्वारा निरुद्ध करके दृढ़ बनाना चाहिए। यह न हो कि कभी अभ्यास किया, फिर छोड़ दिया। इस तरह वह (अभ्यास) दृढ़ नहीं हो पाता। आगे यह भी कहा गया है कि अभ्यास को श्रद्धापूर्वक (सत्कारासेवित) लगन और उत्साहपूर्वक करना चाहिए. इससे वह दृढ़ अवस्था वाला बन जाता है। जिनके पूर्व-संस्कारवश लगन-वैराग्य तीव्र हैं,उन्हें अधिक समय लगाने की आवश्यकता नहीं है। तथापि अभ्यासी जनों को बिना उकताये, बिना घबराये लगे रहना चाहिए। अभ्यास दृढ़ हो जाने से बहिर्मुखी वृत्तियाँ विपरीत प्रभाव नहीं डाल पातीं॥ १४॥

अब वैराग्य लक्षण विवेचित किया जा रहा है-

(१५) दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥

सूत्रार्थ— दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य - देखे हुए एवं सुने हुए विषयों में जो पूर्णरूपेण तृष्णा रहित है, ऐसे चित्त की, वशीकारसंज्ञा =' वशीकार' संज्ञा (अवस्था) को ही, वैराग्यम् = वैराग्य कहते हैं।

व्याख्या— विषय दो श्रेणियों में विभाजित हैं- १. दृष्ट, २. आनुश्रविक। दृष्ट विषय उन्हें कहते हैं, जो जगत् में दृष्टि गोचर होते हैं, जैसे-रूप, रस, गंध, धन-सम्पदा, स्त्री, राज-ऐश्वर्य आदि। आनुश्रविक उन्हें कहते हैं, जो महापुरुषों अथवा वेद-शास्त्रादि द्वारा सुने गये हैं। जैसे-स्वर्गलोक, प्रकृतिलय का आनन्द, ऋद्धियाँ-सिद्धियाँ, दिव्य रस-गन्ध आदि। इन दोनों प्रकार के विषयों (दिव्य और सामान्य) में जब चित्त में द्वेषादि विकार न हो, उस अवस्था को 'वशीकार संज्ञा' से अभिहित किया जाता है। इसे ही 'अपर वैराग्य' भी कहते हैं। वैराग्य वह नहीं कहलाता कि अस्वस्थता की अवस्था में भोजन आदि की अनिच्छा हो जाने से स्वादिष्ट भोज्य पदार्थ न खाये जायें। इसी प्रकार इसे भी वैराग्य नहीं माना जायेगा कि कोई वस्तु लोभ, भय से छूट जाये अथवा दुष्प्राप्य होने से प्राप्त न हो सके अथवा किसी के कहने से उसे त्याग दिया जाये; क्योंकि उस स्थिति में बीज रूप से तो तृष्णा विद्यमान ही रहेगी। वस्तुत: विवेक दृष्टि से विषयों को दु:ख रूप मानकर उनके प्रति विराग (अरुचि) का भाव ही वैराग्य है।

वैराग्य की चार संज्ञाएँ शास्त्रों में वर्णित हैं- **१. यतमान—** जिन विषयों के प्रति अपनी आसक्ति हो, उनके दूषित परिणामों पर विचार करने के उपरान्त उनके प्रति घृणा का भाव उत्पन्न हो जाए, तो वह यतमान कहलायेगा। **२. व्यतिरेक—** व्यतिरेक वैराग्य वह है. जिसमें अब तक भोगे गये भोगों को व्यर्थ माना जाता है और उसी (व्यर्थता) को पर्याप्त मानकर संतोष किया जाता है। **३. एकेन्द्रिय—** जब व्यक्ति परिस्थितियों के कारण विवश हो जाये अथवा उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाएँ अथवा भोगों का मिलना कष्ट साध्य हो, ऐसी स्थिति में विषयों से उपरत हो जाना एकेन्द्रिय वैराग्य कहलाता है। **४. वशीकार—** इसका वर्णन व्याख्या के प्रारम्भिक अंशों में किया ही जा चुका है कि देखे, सुने, दिव्य-अदिव्य, विषयों के उपस्थित होने पर भी उन्हें वैचारिक दृष्टि से,आप्तोपदेश से दु:खकारक समझकर,तृष्णा का परित्याग करके,वासनाओं को नियंत्रित करके मन को भटकाव से रोकना ही वशीकार या अपर वैराग्य है॥ १५॥

अब पर-वैराग्य का लक्षण बताते हैं-

(१६) तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥ १६॥

सूत्रार्थ— पुरुषख्यातेः = पुरुष के ज्ञान से, गुणवैतृष्ण्यम् = प्रकृति के गुणों में तृष्णा का पूरी तरह अभाव हो जाना, तत् = वह, परम् = पर-वैराग्य कहलाता है।

व्याख्या— पुरुष अथवा आत्मा का ज्ञान हो जाने तथा प्रकृत्ति के गुणों के स्वरूप की जानकारी हो जाने पर तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाना पर-वैराग्य कहलाता है। भावार्थ यह है कि जब योगी दिव्य और अदिव्य विषयों को दोषयुक्त समझकर उनसे विरक्त हो जाता है, तब यह स्थिति पर-वैराग्य कहलाती है। इस अवस्था में चित्त से विषयों की तृष्णा दूर हो जाती है, जिससे चित्त एकाग्र हो जाता है।

इससे उच्च स्थिति में पुरुष (आत्मा) और चित्त के भेद का साक्षात्कार होता है। इस स्थिति को पुरुषख्याति या विवेकख्याति नाम से जाना जाता है। यह अवस्था प्राप्त हो जाने पर जैसे-जैसे अभ्यास बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे चित्त का निर्माण होता जाता है और तत्पश्चात् इस स्थिति से भी विरक्ति होती जाती है। गुणत्रय के प्रति भी वैराग्य होने लगता है अर्थात् रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न कामनाओं को तो त्याग ही दिया जाता है। अन्ततः (इस विवेकख्याति स्थिति में) उस सतोगुण को भी छोड़ दिया जाता है, जिसके फलस्वरूप प्रसन्नता आदि गुण उत्पन्न होते हैं। अतः साधक उन्हें भी त्याग कर विशुद्ध आत्म स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस प्रकार समस्त गुण वृत्तियों के समाप्त हो जाने पर एक ऐसी स्थिति आती है, जिसे वैराग्य की पराकाष्ठा कह सकते हैं। इस स्थिति का नाम 'धर्ममेघ समाधि' है। योग शास्त्र ४/२९ (कैवल्यपाद) में इसका वर्णन हुआ है। पर-वैराग्य असम्प्रज्ञात समाधि तथा अपर वैराग्य संप्रज्ञात-समाधि का प्रतीक माना जाता है॥ १६॥

अब सम्प्रज्ञात समाधि तथा उसके भेदों का वर्णन किया जा रहा है-

(१७) वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः॥ १७॥

सूत्रार्थ— वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् = वितर्क, विचार, आनन्द एवम् अस्मिता इनके अनुगम सहयोग अथवा सम्बन्ध से (चित्तवृत्तियों का निरोध हो जाने के कारण), सम्प्रज्ञातः = सम्प्रज्ञात योग (समाधि) की स्थिति आती है।

व्याख्या— वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता इनके सम्बंध से सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति बनती है। इसे इस प्रकार भी कह सकते हैं, उपर्युक्त चारों के पृथक्-पृथक् संयोग से सम्प्रज्ञात समाधि के चार प्रकार होते हैं। भावार्थ यह है कि वितर्क के संयोग से होने वाली समाधि को वितर्कानुगत समाधि, विचार के संयोग से होने वाली समाधि को विचारानुगत समाधि, आनन्द के संयोग से होने वाली समाधि को आनन्दानुगत समाधि तथा अस्मिता के सम्बन्ध से होने वाली समाधि को अस्मितानुगत समाधि कहते हैं। इन सभी प्रकार की समाधियों का सार-संक्षेप क्रमशः इस प्रकार है-

१. वितर्कानुगत समाधि— पञ्चभूतों तथा इन्द्रियों के भाव के आधार पर की गई समाधि वितर्कानुगत समाधि होती है। इसमें विभिन्न देवताओं-जैसे सूर्य, चन्द्र, दुर्गा, शिव, कृष्ण आदि का ध्यान करते हुए उनमें चित्त को तन्मय कर लिया जाता है। जिस प्रकार तीर चलाना सीखने के निमित्त प्रारम्भ में बोर्ड बनाकर बड़े निशाने पर दृष्टि को एकाग्र करके उस पर तीर चलाया जाता है, बाद में क्रमशः धीरे-धीरे छोटे बिन्दु पर निशाना लगाने का अभ्यास किया जाता है और अन्ततः छोटे से छोटे बिन्दु पर निशाना सधने की स्थिति में पूर्ण सफलता मान ली जाती है। इसी प्रकार स्थूल पदार्थों पर स्थूल इन्द्रियों के माध्यम से जो त्राटक इत्यादि क्रियाएँ की जाती हैं, वे इस वितर्कानुगत समाधि के अन्तर्गत ही हैं।

२. विचारानुगत समाधि— जब स्थूल पदार्थों को साक्षात् कर लिया जाता है, तब सूक्ष्म पदार्थों में सूक्ष्म तन्मात्राओं (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध) के भावनात्मक विचार के द्वारा जो समाधि की स्थिति बनती है, वह विचारानुगत समाधि होती है। जैसे सूर्य आदि स्थूल पदार्थों के उपरान्त उनके तेज आदि सूक्ष्म रूपों का ध्यान करना विचारानुगत कहलायेगा।

३. आनन्दानुगत समाधि— इस समाधि में विचार शून्यता की स्थिति आ जाती है, मात्र आनन्द ही शेष बचता है।

४. अस्मितानुगत समाधि— इसमें आनन्द भी समाप्त हो जाता है। साधक अपने आत्म स्वरूप की अनुभूति करते हुए 'अस्मि'(हूँ)में अवस्थित हो जाता है। इसी 'अस्मि' में स्थिति के कारण इसका नाम अस्मितानुगत समाधि है॥१७॥

वृत्तियों के नितान्त निरुद्ध हो जाने पर योग के स्तर को असम्प्रज्ञात समाधि कहा जाता है। आगे उसी (पर-वैराग्य) का वर्णन किया जा रहा है-

(१८) विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः॥ १८॥

सूत्रार्थ— विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः = जिसकी पूर्व अवस्था विराम-प्रत्यय का अभ्यास है तथा, संस्कारशेषः = जिसमें चित्त की स्थिति मात्र संस्कार स्वरूप ही शेष बचती है वह, अन्यः = दूसरी अवस्था (असम्प्रज्ञात समाधि) है।

व्याख्या— पूर्व में बताया ही जा चुका है कि सम्प्रज्ञात समाधि की उच्च स्थिति का नाम विवेक-ख्याति है। इस स्थिति में चित्त और पुरुष (आत्मा) के अन्तर का विवेक प्राप्त होता है; किन्तु यह चित्त की वृत्ति भी है। जब इस वृत्ति से भी तृष्णा समाप्तप्राय हो जाती है, तब 'पर-वैराग्य' की स्थिति बनती है। तभी पर-वैराग्य में विवेक की ख्याति रूपी अन्तिम वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है। इस स्थिति को विराम-प्रत्यय कहा जाता है अर्थात् समस्त वृत्तियों के निरोध का कारण विराम-प्रत्यय है।

चित्त की प्रायः चार अवस्थाएँ होती हैं- **१. व्युत्थान २. समाधि आरम्भ ३. एकाग्रता ४. निरोध।**

व्युत्थान अवस्था से उत्पन्न होने वाले संस्कार समाधि आरम्भ अवस्था से उत्पन्न संस्कारों द्वारा विनष्ट हो जाते हैं। सभाधि आरम्भ अवस्था से उद्‌भूत संस्कार एकाग्रता से व्युत्पन्न संस्कारों द्वारा विनष्ट हो जाते हैं तथा जो संस्कार एकाग्रता से उत्पन्न होते हैं, वे निरोध अवस्था से उत्पन्न संस्कारों द्वारा नष्ट हो जाते हैं। यही स्थिति विराम-प्रत्यय कहलाती है। इस स्थिति में निरोध के संस्कार शेष रहते हैं, इसी अवस्था का नाम असम्प्रज्ञात समाधि है। इस स्थिति में चित्त को मात्र संस्कार स्वरूप आभास बना रहता है। जिस प्रकार अग्नि में सोने को तपाने पर उसमें डाला हुआ शीशा (शीशा नामक धातु) स्वर्ण के मल (गन्दगी) को जलाकर स्वयं भी भस्मीभूत हो जाता है, उसी तरह निरोध के संस्कार शेष एकाग्रता के संस्कारों से विनष्ट हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में चित्त प्रथमतः कारण में लय हो जाता है। जब प्रकृति संयोग का अभाव हो जाता है, तब द्रष्टा की अपने स्वरूप में स्थिति हो जाती है। इसी स्थिति का नाम कैवल्य है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में निरोध के संस्कार-बीज दग्ध (जले) हुए की तरह रहते हैं; किन्तु कैवल्य में निरोध के संस्कार भी लीन हो जाते हैं, इसी स्थिति को निर्बीज-समाधि कहा जाता है। यही सम्प्रज्ञात समाधि से इसकी भिन्नता है॥ १८॥

अब विदेह एवं प्रकृतिलय योगियों को होने वाले असम्प्रज्ञात योग का वर्णन किया जा रहा है-

(१९) भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥ १९॥

सूत्रार्थ— भवप्रत्ययः = भव-प्रत्यय नामवाली (असम्प्रज्ञात समाधि), विदेहप्रकृतिलयानाम् = विदेह और प्रकृतिलय वाले योगियों की होती है।

व्याख्या— जो योगी वितर्क समाधि के द्वारा स्थूल तत्त्वों का साक्षात्कार करके देह में अहंभाव को समाप्त कर देते हैं, उन्हें 'विदेह' कहा जाता है। जो इससे भी ऊँची साधना करके प्रकृति के समस्त भेदों को जानकर उसका (प्रकृति का) लय कर देते हैं, वे 'प्रकृतिलय योगी' कहलाते हैं। उपर्युक्त

स्थितियों को जो पूर्वजन्मों में ही प्राप्त कर चुके होते हैं, वे अगले जन्म में प्रारम्भ से ही पर-वैराग्य की स्थिति पाकर विराम-प्रत्यय का अभ्यास करते हैं और अन्ततः असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कर लेते हैं। ऐसे योगियों की इस जन्म में प्राप्त होने वाली समाधि वस्तुतः प्रयत्नजन्य नहीं है। (क्योंकि वह वर्तमान प्रयत्न से प्राप्त नहीं होती, वरन् पूर्व संस्कारवश मिलती है) इसलिए इस (समाधि) को भव-प्रत्यय कहते हैं। भव का अर्थ जन्म तथा प्रत्यय का अर्थ कारण है। भव-प्रत्यय का अभिप्राय विगत जन्म की योग सिद्धि के कारण वर्तमान जन्म में प्रारंभ से ही असम्प्रज्ञात योग में प्रवृत्ति होती है। गीता- ६.४२-४३ में भी इस तथ्य की पुष्टि हुई है कि जो योगभ्रष्ट होकर मृत्यु को प्राप्त करते हैं, वे पुनः अगले जन्म में अपनी छूटी हुई साधना पूर्ण करते हैं। विदेह तथा प्रकृतिलय योगी जो श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, प्रज्ञा, समाधि आदि साधनों का विगत जन्म में ही अभ्यास कर चुके होते हैं। उन्हें इस जन्म में इन सबके लिए उपाय नहीं करना पड़ता; किन्तु कुछ ऐसे भी होते हैं, जिनकी पूर्व सञ्चित साधना नहीं है। उन्हें किस प्रकार समाधि आदि की प्राप्ति होती है? अगले सूत्र में इसी का वर्णन किया जा रहा है॥ १९॥

(२०) श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥ २०॥

सूत्रार्थ— श्रद्धा-वीर्य-स्मृति-समाधि-प्रज्ञापूर्वकः = श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञापूर्वक क्रम से, इतरेषाम् = अन्य साधकों को।

व्याख्या— अन्य योगी जो विदेह और प्रकृतिलय स्थिति वाले नहीं हैं। उन्हें श्रद्धा, पुरुषार्थ, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति प्राप्त होती है। अभिप्राय यह है कि जो विदेह और प्रकृतिलय स्थिति वाले नहीं हैं, उन्हें प्रारम्भिक स्थिति में श्रद्धा अर्थात् शास्त्र कथन पर विश्वास रखकर योग की उपयोगिता और आवश्यकता का भान करते हुए श्रद्धावान् बनना होता है; क्योंकि सन्तों का ऐसा अभिमत है कि 'श्रद्धा' योगी की मातृवत् रक्षा करती है। सात्त्विक श्रद्धापूर्वक जो अभ्यास योग साधना में तत्परता उत्पन्न करता है उसे 'वीर्य' (पुरुषार्थ) की संज्ञा दी गई है, इसे ही प्रयत्न कहते हैं। जो यम-नियमादि क्रम से किया जाता है। जिसे करते-करते आत्म-कल्याण पथ पर चलने से 'स्मृति' प्राप्त होती है अर्थात् पूर्वजन्मों के अक्लिष्ट कर्म और ज्ञान के संस्कार जाग जाते हैं। तत्पश्चात् चित्त एकाग्रता सम्पन्न और स्थिर होने लगता है। अतः साधक का मन समाहित होकर समाधि की स्थिति होती है। इसके बाद प्रज्ञा जाग्रत् होती है, जिससे विवेक ज्ञान द्वारा वस्तु का यथार्थ स्वरूप दृष्टिगोचर होने लगता है। अस्तु, इसके अभ्यास से पर- वैराग्य की स्थिति और तत्पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त होती है। गीता में इस तथ्य की पुष्टि इस श्लोक में की गई है- **श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति** (गी० ४.३९) ॥२०॥

अब अभ्यास और वैराग्य की तीव्रता से योग की अतिशीघ्र सिद्धि का तथ्य अगले सूत्र में बताते हैं-

(२१) तीव्रसंवेगानामासन्नः॥ २१॥

सूत्रार्थ— तीव्रसंवेगानाम् = जिनके संवेग (साधन) की गति तीव्र है, उनको; आसन्नः = समीप, शीघ्र (निर्बीज समाधि का लाभ मिलता है)।

व्याख्या— जिन योगियों के साधन की गति तीव्र होती है, उन्हें निर्बीज समाधि का लाभ अतिशीघ्र मिलता है। भावार्थ यह है कि जिन उपाय-प्रत्यय वाले योगियों का अभ्यास-वैराग्य तीव्र भाव से गतिमान् होता है और पूरी लगन के साथ यौगिक क्रियाएँ सम्पन्न होती हैं, उन्हें समाधि तथा उसके फल की प्राप्ति अतिशीघ्र होती है। इस सूत्र में 'संवेग' शब्द के दो अर्थ हैं- १. वैराग्य २. यौगिक क्रिया

अनुष्ठान। अस्तु, तीव्र संवेग का तात्पर्य यह है कि शीघ्र समाधि लाभ हेतु तीव्र वैराग्य के साथ यौगिक क्रियाएँ भी आवश्यक हैं। उनमें शिथिलता हुई तो समाधि लाभ शीघ्र नहीं मिल सकता। तीव्र साधन से समाधि की स्थिति और उसके फल कैवल्य दोनों की ही शीघ्र प्राप्ति होती है॥ २१॥

तीव्र संवेग भी मृदु, मध्य और अधिमात्र तीन प्रकार के होते हैं। यों तो विस्तृत रूप में ये नौ होते हैं, पर यहाँ उनके मूल स्वरूप में तीन का ही वर्णन किया जा रहा है कि इनके प्रयोग से योग की गति शीघ्र और अतिशीघ्र किस प्रकार होती है? अर्थात् इनसे सफलता की अवधि में किस प्रकार अन्तर होता है-

(२२) मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपिविशेषः॥ २२॥

सूत्रार्थ— मृदुमध्यअधिमात्रत्वात् = मृदु, मध्य और अधिमात्र होने से (वैराग्य और यौगिक क्रियाओं के), ततः अपि = उससे भी, विशेषः = विशिष्ट (निकट,निकटतर,निकटतम) समाधि की प्राप्ति होती है।

व्याख्या— तीव्र संवेग की भी तीन श्रेणियाँ होती हैं- मृदु, मध्य, और अधिमात्र। इनके ही अनुसार समाधि प्राप्ति की सफलता अवधि में भी अन्तर पाया जाता है। समाधि की साधना में यौगिक क्रियाओं की अपेक्षा भावना का प्रगाढ़ होना अधिक महत्त्वपूर्ण है। अभ्यास और वैराग्य भले ही हो; परन्तु भावना की तीव्र लगन एवं निष्ठा साधारण ही है, तो वह साधन 'मृदु' कहा जायेगा और सफलता मिलने में विलम्ब होगा। जिस यौगिक साधन में श्रद्धा, भक्ति एवं विवेक तथा भाव और भक्ति मृदु की तुलना में कुछ उन्नत हैं, वह 'मध्यम' माना जायेगा। उसकी सफलता में 'मृदु' की अपेक्षा कम समय लगेगा। इसी प्रकार जिन यौगिक क्रियाओं में श्रद्धा, विवेक भाव अत्यन्त उन्नत हैं, उन्हें 'अधिमात्र' वाला माना जायेगा, जिससे सफलता अतिशीघ्र अर्थात् अत्यल्प समय में मिल जायेगी। भावार्थ यह है कि साधक की लगन जितनी तीव्र होगी, सफलता भी उतनी ही शीघ्रता से मिलेगी॥ २२॥

अब निर्बीज समाधि प्राप्त होने का और सुगम मार्ग बताते हैं-

(२३) ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ २३॥

सूत्रार्थ— वा = इसके अतिरिक्त, ईश्वरप्रणिधानात् = ईश्वर प्रणिधान (ईश्वर उपासना) से भी (निर्बीज समाधि की शीघ्र प्राप्ति हो सकती है)।

व्याख्या— जिस तरह बाह्य चित्त वृत्तियों को अभ्यास और वैराग्य द्वारा शान्त कर दिया जाता है, उसी तरह 'ईश्वर प्रणिधान' द्वारा समस्त वृत्तियों को ईश्वर को समर्पित कर देने और अनासक्त कर्मयोग को अपना लेने से उनकी शुद्धि हो जाती है और वे चञ्चलतारहित हो जाती हैं। इस सूत्र में ईश्वर प्रणिधान से तात्पर्य ईश्वर की पूर्ण भक्तिभावपूर्वक आत्म समर्पण सहित उपासना से है। जिसके द्वारा आराधित ईश्वर उपासक के अभीष्ट की सिद्धि करता है। वस्तुतः होता यह है कि साधक जब सर्वात्मना संसार से विरक्त होकर अपनी समस्त भावनाएँ ईश्वर में 'समर्पित'कर देता है, तब चञ्चल चित्त वृत्तियों के उठने की सम्भावना क्षीण हो जाती है। यही प्रभु का प्रसाद है। अपने भक्त की भावनाओं को जानकर ईश्वर उसका अभीष्ट पूर्ण कर देता है।

व्याख्याकारों का मानना है कि ईश्वर उस स्थिति में संकल्प मात्र से भक्त के अभीष्ट को सिद्ध कर देता है। ईश्वर को इस कार्य के लिए किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं रहती। ऊपर बताया ही जा चुका है कि सम्पूर्ण समर्पण के कारण ईश्वर भक्त पर कृपा करके उसकी चित्त वृत्तियों को शमित कर देता है,जिसके कारण वे निरुद्ध हो जाती हैं और(निर्बीज)समाधि की सिद्धि हो जाती है॥ २३

अब उस ईश्वर का स्वरूप बताया जा रहा है, जिसकी उपासना से समाधि सिद्ध होती है-

(२४) क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ — क्लेशकर्मविपाक-आशयैः = क्लेश,कर्म, विपाक और आशय इन चारों से, अपरामृष्टः = असम्पृक्त (असम्बद्ध-अछूता) तथा जो, पुरुषविशेषः = विशिष्ट चेतन तत्त्व अर्थात् परम आत्मा है, ईश्वरः = वह ईश्वर है।

व्याख्या— जो क्लेश, कर्म, विपाक और आशय इन चारों से अछूता और परम आत्मा है, वह ईश्वर है। पाँच प्रकार के क्लेश जो द्वितीय पाद के तीसरे सूत्र में वर्णित हैं, वे-अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश हैं। इसी प्रकार कर्मों के भी चार प्रकार हैं- १. पापकर्म, २. पुण्य कर्म ३. पुण्य और पाप मिश्रित तथा ४. पाप-पुण्य रहित। 'विपाक' का अर्थ है- कर्मफल परिपक्व हो जाने पर सकाम कर्मों के फल सुख, दुःख, जाति, आयु, भोग आदि के रूप में प्राप्त होना। 'आशय' का अभिप्राय चित्त में प्रसुप्त पड़ी उन वासनाओं से है, जो अभी संस्कार स्वरूप ही विद्यमान हैं, जिनके परिणाम स्वरूप जाति, आयु, भोग आदि अभी तैयार नहीं हो पाये हैं।

ईश्वर इन चारों दोषों से रहित, सामान्य आत्माओं जैसे दोषों से पूरी तरह शून्य एवम् श्रेष्ठताओं से पूरित है,वह विश्वव्यापी है और परम आत्मा है। सूत्रकार ने पुरुष विशेष कहा है, इसका अभिप्राय है कि ऊपर वर्णित, क्लेश कर्म, विपाक और आशय इन चारों से सामान्य आत्माएँ सम्पृक्त रहती हैं; क्योंकि अनादिकाल से इनका इनसे सम्बन्ध रहता है। यद्यपि मुक्त पुरुषों का भी इनसे सम्बन्ध नहीं रहता है; किन्तु पूर्व में रहा होता है; लेकिन ईश्वर का तो इनसे कभी सम्बन्ध न था, न होगा। अस्तु, ईश्वर विशेष है और उन (मुक्त पुरुषों) से भी परे है॥ २४॥

अब ईश्वर की विशेषता बताई जा रही है-

(२५) तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ २५ ॥

सूत्रार्थ— तत्र = उस (ईश्वर) में, सर्वज्ञबीजम् = सर्वज्ञता का कारण रूप बीज अर्थात् ज्ञान, निरतिशयम् = निरतिशय अर्थात् सर्वोच्च है।

व्याख्या— जिससे बढ़कर कोई दूसरा हो, वह सातिशय कहलाता है; किन्तु जिससे बढ़कर कोई दूसरा न हो, वह निरतिशय कहलाता है। ईश्वर का ज्ञान सर्वोच्च है। वह सर्वज्ञ है, इसीलिए उसके ज्ञान से अधिक किसी का ज्ञान नहीं है। अतः वह निरतिशय कहा जाता है। इसी प्रकार धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, श्री, विभूति, सम्पत्ति आदि इन सभी की एक पराकाष्ठा है। संसार में जो भी ज्ञान-विज्ञान और ऐश्वर्य आदि है, इन सभी की सीमा ईश्वर है। आत्मा में ये सभी वस्तुएँ सीमित हैं; पर परमात्मा में असीमित हैं॥ २५ ॥

अब शिव, ब्रह्मा, विष्णु आदि देवताओं को प्रेरणा एवं प्रकाश देने वाला भी उस ईश्वर को ही बताया जा रहा है-

(२६) पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ २६ ॥

सूत्रार्थ— पूर्वेषामपि = वह ईश्वर पूर्वजों (पूर्व में हुए देवों) का भी, गुरुः = गुरु है, कालेन अनवच्छेदात् = काल के द्वारा सीमित न होने से।

व्याख्या— सृष्टि के आरम्भ में उत्पन्न होने एवं वेदों द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान-विज्ञान का उपदेश करने के कारण ब्रह्माजी को सबका गुरु माना जाता है; परन्तु ब्रह्मा जी का सृष्टि के पूर्व उद्‌भव और महाप्रलय के पश्चात् अवसान होता है। अतः वे काल परिच्छिन्न हैं अर्थात् काल द्वारा सीमित हैं; परन्तु ईश्वर काल से बँधा नहीं है, वह सृष्टि के पूर्व और महाप्रलय के पश्चात् तथा हर स्थिति में विद्यमान रहता है। अतः वह

ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि देवों को भी ज्ञान-प्रदान करता है। अस्तु, वह इनका भी गुरु है अर्थात् उपदेष्टा है। ईश्वर गुरुओं (लौकिक गुरुओं) का भी गुरु है॥ २६॥

[उपर्युक्त सूत्र में गुरु ईश्वर को बताया गया है; किन्तु उस ईश्वर तक (समाधि अवस्था तक) पहुँचने के लिए लौकिक गुरु की आवश्यकता तो पड़ती ही है। अत: मुमुक्षु के लिए उचित है कि समाधि के निमित्त वह ऐसे गुरु से उपदेश प्राप्त करे, जो धन, सम्पदा, प्रतिष्ठा आदि से विरक्त हो तथा जन्म-जाति-पाँति और मत-मतान्तरों की संकीर्णता से युक्त न हो। वह शिष्य के गुण, कर्म, स्वभाव और संस्कारों को ऊँचा उठाकर उसे अन्तिम लक्ष्य (समाधि की स्थिति) तक पहुँचा सके।]

(२७) तस्य वाचकः प्रणवः॥ २७॥

सूत्रार्थ— तस्य = उसका, वाचक: = वाचक (नाम), प्रणव: = प्रणव (अर्थात् ॐ कार) है।

व्याख्या— नामी का नाम से अनादि और बहुत गहरा सम्बन्ध है। इसीलिए शास्त्रों में नाम जप की बहुत महिमा वर्णित की गई है। गीता में जप यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ बताया गया है। विभिन्न भाषाओं और देशों में परमात्मा-ईश्वर के विभिन्न नाम हैं; किन्तु उनमें सर्वाधिक श्रेष्ठ और मान्य नाम वेदोक्त होने से 'ॐ' (प्रणव) माना गया है। गीता १७.२७, कठ० १.२.१५,१७ में इसी का वर्णन किया गया है। इस नाम का आधार यह है कि मूल प्रकृति और ईश्वर का जिस स्थान पर सम्बन्ध है, वहाँ से निरन्तर एक ॐकार ध्वनि गुञ्जरित होती रहती है, वही ध्वनि शक्ति स्वरूपा होकर संसार के विभिन्न कार्यों को पूर्ण करती है। यह ध्वनि स्वयं नि:सृत होती रहती है, जिसका रसास्वादन योगीजन ध्यान की स्थति में (श्रवण करके) करते हुए ब्रह्मानंद में रमण करते हैं। इस 'ॐ' ध्वनि को ईश्वर का स्वघोषित नाम माना जाता है। इस 'ॐ' के अनेक पर्यायवाची नाम हैं, जिनसे ईश्वर के अनेक गुणों को ग्रहण किया जाता है। अ, उ और म् इन तीनों अक्षरों को मिलाकर 'ॐ' बनता है। अकार विराट् स्वरूप अग्नि, विष्णु आदि का बोध कराने वाला है, 'उ' कार से हिरण्यगर्भ, शंकर, तैजस नामों का अर्थ प्रकट होता है,'म' कार से ईश्वर प्राप्ति प्रकृति आदि नाम बनते हैं।

ओंकार नाम का मानसिक जप जब परिपक्व स्थिति में पहुँच जाता है, तब मात्र ध्यान स्वरूप ध्वन्यात्मक प्रणव (ॐ) की भूमिका प्रारम्भ होती है। इसीलिए योगीजन 'ॐ' की ही उपासना करते हैं। समस्त वेद-शास्त्र इसी की व्याख्या स्वरूप रचे गये हैं॥ २७॥

अब ॐकार नाम वाले ईश्वर की उपासना विधि का वर्णन किया जा रहा है-

(२८) तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ २८॥

सूत्रार्थ — तज्जप: = उस ॐ कार (नाम वाले ईश्वर) का जप (और), तदर्थभावनम् = उसके अर्थ स्वरूप परमात्मा का चिन्तन (करने से समाधि लाभ प्राप्त होता है)।

व्याख्या — ॐ कार के जप और इसके चिन्तन को योग का सर्व प्रमुख और सर्वश्रेष्ठ साधन कहा गया है। इसके (प्रणव के) जप और चिन्तन से चित्त की चञ्चलता दूर हो जाती है। जप से योग और योग से जप करने से एक विशिष्ट शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। दोनों की शक्ति से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी का नाम ईश्वर प्रणिधान या ईश्वर की शरणागति है। इसी को अनन्य भाव में लीन होना कहते हैं। चित्त को चारों तरफ से हटाकर परमात्मा में लगा देने को ही भावना कहते हैं। इसी भावना से अविद्या आदि क्लेश, काम्य कर्म, कर्मफल, वासनाओं के संस्कार (जो जन्म-मृत्यु आदि बन्धन के कारण रूप हैं।) चित्त से धुलकर साफ हो जाते हैं और सात्त्विक ज्ञान के संस्कार उदित होते हैं, तब मात्र ईश्वर ही ध्येय रह जाता है। निरन्तर अभ्यास से यह भावना इतनी सुदृढ़ हो जाती है कि ॐकार के उच्चारण मात्र से

ईश्वर का स्मरण हो जाता है। जिस प्रकार गाय का नाम लेने मात्र से उसके स्वरूप की स्मृति हो जाती है, उसी प्रकार 'ॐ' उच्चारण करते ही ईश्वर की स्मृति हो जाती है। यह सब सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में होता है। सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति में सतोगुण, रजोगुण के ऊपर प्रभावी हो जाता है, उस समय स्थूल शरीर स्थूल दशा में व्युत्थान बन्धन का कार्य स्थगित कर देता है। सूक्ष्म शरीर सतोगुणी प्रकाश पाकर सूक्ष्म-जगत् में क्रियाशील रहता है। इस प्रकार क्रमशः निर्बीज समाधि की प्राप्ति होती है॥ २८॥

अब ईश्वर के नाम और स्वरूप के चिन्तन का प्रतिफल वर्णित किया जा रहा है-

(२९) ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥ २९॥

सूत्रार्थ— ततः = उक्त साधन के द्वारा, अन्तरायाभावः = विघ्न-बाधाओं का अभाव, च = और, प्रत्यक्चेतनाधिगमः = अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान, अपि = भी हो जाता है।

व्याख्या— साधक के साधना पथ में अनेक विघ्न-बाधाएँ भी आती हैं; किन्तु पूर्व सूत्र में वर्णित ॐ कार के जप तथा ईश्वर प्रणिधान (ध्यान-उपासना) से इन विघ्नों का शमन होता रहता है, साथ ही ईश-साक्षात्कार का पथ भी सुगम हो जाता है। परमात्मा के जिन गुणों का ध्यान करते हुए साधक उपासना करता है, उन गुणों का साधक में भी समावेश होता जाता है। जैसे-परमात्मा नित्य, चैतन्य, कूटस्थ और क्लेश आदि से रहित है, इस ध्यान से (ईश्वर प्रणिधान प्रक्रिया से) साधक को अपने निर्लिप्त निर्विकार और क्लेशादि से रहित शुद्ध स्वरूप का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हो जाता है॥ २९॥

अब उन विघ्नों का वर्णन किया जा रहा है, जो योग पथ से विचलित करते हैं-

(३०) व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ ३०॥

सूत्रार्थ— व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि = व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति दर्शन, अलब्ध भूमिकत्व और अनवस्थितत्व- ये नौ, चित्तविक्षेपाः = चित्त के विक्षेप हैं, ते अन्तरायाः = वे ही अन्तराय अर्थात् विघ्नरूप हैं।

व्याख्या— योगपथ पर चल रहे साधक को जो विघ्न पथभ्रष्ट करते हैं, वे नौ प्रकार के हैं-

१. व्याधि- शरीर में किसी प्रकार का रोग, इन्द्रियों में कमजोरी आ जाना तथा चित्त में भ्रम, उद्विग्नता आदि आ जाना व्याधि कहलाती है।

२. स्त्यान— कार्य करने में असमर्थ होने, अकर्मण्यता, कार्य में अनुत्साह अथवा सामर्थ्य की कमी को 'स्त्यान' कहते हैं।

३. संशय— योग विद्या की वस्तुस्थिति पर विश्वास न होने तथा अपने प्रयत्न की सफलता पर आशंका करना संशय कहलाता है।

४. प्रमाद— लापरवाही पूर्वक योग साधना करना, नियमित क्रम को अधूरा छोड़ देना और वह बिगड़ भी जाये, तो भी उसकी चिन्ता न करना प्रमाद कहलाता है।

५. आलस्य— तमोगुण के रहने से शरीर का भारी रहना, कार्य में मन न लगना, सुस्ती बनी रहना, आलस्य कहलाता है।

६. अविरति— विषयासक्ति होने से मन का विषयों में ही लगे रहना तथा चित्त में वैराग्य का अभाव हो जाना अविरति कहलाता है।

७. भ्रान्ति दर्शन— किसी कारणवश अध्यात्म के दर्शन और साधनपथ का वास्तविक ज्ञान न

हो पाना अथवा यह साधन उपयुक्त नहीं है, ऐसा भ्रामक ज्ञान '**भ्रान्तिदर्शन**' नामक विघ्न कहलाता है।

८. अलब्ध भूमिकत्व— निरन्तर साधना करने पर भी साधक की स्थिति में न पहुँच पाना तथा मध्य में ही मन के वेग का अवरुद्ध हो जाना अलब्ध भूमिकत्व कहलाता है।

९. अनवस्थितत्व— चित्त का एकाग्र अथवा स्थिर न रह पाना, जिससे भूमिका तक न पहुँच पाना और अस्थिरता के फलस्वरूप मनोभूमि का डाँवाँडोल बने रहना अनवस्थितत्व नामक विघ्न कहलाता है।

इन नौ विक्षेपों को योग मार्ग के अन्तराय (विघ्न) तथा योग प्रतिपक्षी भी कहा जाता है॥ ३०॥

इनके अतिरिक्त योग के और भी विघ्न होते हैं, जिनका वर्णन अगले सूत्र में किया जा रहा है-

(३१) दु:खदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः॥ ३१॥

सूत्रार्थ— दु:खदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा: = दु:ख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास तथा प्रश्वास ये पाँच विघ्न भी, विक्षेपसहभुव: = विक्षेपों (उपर्युक्त) के साथ रहते हैं।

व्याख्या— इससे पूर्व के सूत्र में योग मार्ग में आने वाले नौ विक्षेपों का वर्णन किया जा चुका है, उनके रहने पर पाँच विघ्न और भी उपस्थित हो जाते हैं। वे दु:ख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास हैं। इनका क्रमश: वर्णन इस प्रकार है-

१. दु:ख— दु:ख अर्थात् कष्ट तीन प्रकार के होते हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधिदैविक। राग-द्वेष, काम-क्रोध, भय-चिन्ता आदि होने से मन, इन्द्रियों और शरीर में जो विकलता एवं वेदना होती है, उसी का नाम आध्यात्मिक दु:ख है। इसी प्रकार शत्रु, दस्यु, शेर, सर्प, मच्छर आदि द्वारा होने वाले कष्टों को आधिभौतिक दु:ख कहते हैं तथा अतिवर्षा, आँधी-तूफान, भूकम्प, बिजली, सर्दी-गर्मी आदि दैवी कारणों से जो पीड़ा होती है, उसे आधिदैविक दु:ख कहते हैं।

२. दौर्मनस्य— मन की कोई इच्छा पूर्ण न होने से मन में जो क्षोभ उत्पन्न होता है, उसे दौर्मनस्य कहा जाता है।

३. अङ्गमेजयत्व— शरीर के अंग-अवयवों का कम्पित होना अङ्गमेजयत्व कहलाता है।

४. श्वास— श्वास प्रक्रिया पर नियन्त्रण न हो पाने के कारण बाहर की वायु का नासिका मार्ग से अन्दर प्रवेश कर जाना (अर्थात् अन्त:कुम्भक में विघ्न हो जाना) 'श्वास' नामक विघ्न कहलाता है।

५. प्रश्वास- न चाहने पर भी (यौगिक क्रियाओं के समय) अन्दर की वायु का बाहर निकल जाना (अर्थात् अन्त: कुम्भक में विघ्न हो जाना) प्रश्वास नामक विघ्न कहलाता है। इन पाँच विघ्नों को उप-विक्षेप भी कहते हैं; क्योंकि मुख्य विक्षेप नौ हैं। ये विक्षेप-उपविक्षेप एकाग्र चित्त वालों को नहीं चञ्चल चित्त वालों को ही होते हैं। अत: चित्त को स्थिर रखने के लिए इन विघ्न-विक्षेपों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए॥ ३१॥

अब इन विघ्नों को दूर करने के उपायों का वर्णन किया जा रहा है-

(३२) तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास:॥ ३२॥

सूत्रार्थ— तत्प्रतिषेधार्थम् = उन (विघ्नों) को दूर करने के लिए, एकतत्त्वाभ्यास: = एक तत्त्व का अभ्यास करना चाहिए।

व्याख्या— उपर्युक्त विघ्नों के निवारणार्थ आवश्यक है कि 'एक तत्त्व' मात्र के ध्यान का ही अभ्यास करना चाहिए। कारण यह है कि चित्त में अनेक विषयों का चिन्तन होता रहता है; पर उसे विभिन्न

विषयों से हटाकर यदि किसी एक ही विषय या तत्त्व में एकाग्र किया जाए, तो विघ्नों का निवारण हो सकता है। 'एक तत्त्व' से अभिप्राय किसी अन्य विषय से नहीं, वरन् ईश्वरीय विषय से है। अत: चित्त को ईश्वर प्रणिधान (ईश उपासना) में लगायें। कई विद्वान् ऐसा भी मानते हैं कि किसी अन्य तत्त्व या लक्षण का तत्परतापूर्वक ध्यान करने से चित्त की एकाग्रता सध जाती है; किन्तु सूत्र का 'एक तत्त्व' पद ईश्वर (ब्रह्म) के लिए ही संकेत करता है। अस्तु, उस ईश्वर का ध्यान ही (ईश्वर प्रणिधान द्वारा) करना उचित है। इससे ही योग में आने वाले विक्षेप और उपविक्षेप पूरी तरह दूर हो सकते हैं॥ ३२॥

अब विषयों से मन हटाने का सुगम मार्ग बताया जा रहा है-

(३३) मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ ३३॥

सूत्रार्थ— सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणाम् = सुखी, दु:खी, पुण्यात्मा और पापात्मा क्रमश: जिन (गुणों) के विषय हैं, ऐसे; मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम् = मित्रता, करुणा (दया), मुदिता (प्रसन्नता) एवं उपेक्षा की, भावनात: = भावना से, चित्तप्रसादनम् = चित्त निर्मल हो जाता है।

व्याख्या — सुखी, दु:खी, पुण्यात्मा और पापात्मा मनुष्यों के सन्दर्भ में क्रमश: मित्रता (मैत्री), करुणा (दया), प्रसन्नता (मुदिता) और उपेक्षा का भाव रखना चाहिए। भावार्थ यह है कि यदि कोई व्यक्ति सुखी है, तो उसके सुख में सुखी बनने का भाव लाकर उसके प्रति मित्रता का भाव रखना उचित है; क्योंकि सामान्यतया लोग दूसरे के सुख को देखकर ईर्ष्या करते हैं; किन्तु मित्र के सुख में सुखी होते हैं। इसी प्रकार दु:ख के प्रति दया (करुणा) का भाव रखकर उसकी सहायता करने के उपाय में लग जाना चाहिए। प्राय: यह देखा जाता है कि लोग दूसरों के दु:ख में सुखी होते हैं; पर यह होना चाहिए कि उनमें दया का भाव रखकर दु:ख दूर करने का उपाय करें। इसी प्रकार किसी पुण्यात्मा (अच्छे कार्य करने वाले) के प्रति प्रसन्नता (मुदिता) का भाव रखकर उसके अच्छे कार्यों की प्रशंसा करके उसे आगे बढ़ाना चाहिए; क्योंकि दुष्टवृत्ति वाले लोग किसी को अच्छे कार्य करते देखकर उसकी प्रशंसा न करके उसे नीचा दिखाने का प्रयास करते हैं; किन्तु योग पथ के पथिक को ऐसा न करके अच्छे (पुण्य) कार्य होते देखकर प्रसन्न होना चाहिए। इसी प्रकार पापात्मा या दुरात्मा जो बुरे कार्य करके अपने को कष्ट पहुँचाने की चेष्टा करते हैं, उनके प्रति बदला लेने का भाव न रखकर उपेक्षा या उदासीनता का भाव रखना चाहिए। इन चारों के पालन से चित्त निर्मल और प्रसन्न होता है।

शास्त्रों में चित्त के छ: प्रकार के मलों का वर्णन मिलता है, जो रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियों के आधिक्य के कारण उत्पन्न होते हैं। ये मल क्रमश: इस प्रकार हैं-

१. ईर्ष्या-कालुष्य— दूसरे लोगों की सम्पदा, गुण तथा यश आदि देखकर जो डाह उत्पन्न होता है, वह ईर्ष्या कालुष्य कहलाता है।

२. परापकार-चिकीर्षा कालुष्य— अपने से अन्य पुरुषों को प्रतिकूल मानकर उन लोगों की बुराई अथवा अपकार करने की चेष्टा करना परापकार-चिकीर्षा कालुष्य के कारण होता है।

३. असूया-कालुष्य— असूया-कालुष्य के कारण ही कई लोग दूसरों के गुणों में भी दोष खोजते तथा विद्वान् को मूर्ख और सन्त को पाखण्डी समझते व प्रचारित करते हैं।

४. अमर्ष कालुष्य— यदि अपने को कोई कटुवचन कहे या गाली दे अथवा अपमान करे, उसको सहन न करके बदला लेने की चेष्टा अमर्ष कालुष्य के कारण की जाती है।

उपर्युक्त चारों कलुषों की निवृत्ति क्रमश: चारों भावों द्वारा हो जाती है। जैसे- ईर्ष्या कालुष्य की निवृत्ति-मैत्री भाव से, परापकार चिकीर्षा कालुष्य की निवृत्ति-करुणा भाव से, असूया कालुष्य की निवृत्ति-मुदिता (प्रसन्नता) भाव से तथा अमर्ष कालुष्य की निवृत्ति-उपेक्षा (उदासीनता) भाव से की जा सकती है।

कुछ विद्वानों ने राग और द्वेष नामक दो कालुष्य और माने हैं, जिन्हें भी क्रमश: मैत्री और करुणा भाव से विनष्ट करने का तथ्य प्रतिपादित किया है। इस प्रकार योग पथ के पथिक को मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा भाव से चित्त को निर्मल करने का प्रयत्न करना चाहिए॥ ३३॥

अब चित्त शुद्धि का अगला उपाय (प्राणायाम) बता रहे हैं-

(३४) प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ ३४॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, प्राणस्य = प्राण का, प्रच्छर्दनविधारणाभ्याम् = बारम्बार प्रच्छर्दन (बाहर निकालने) और विधारण (बाहर रोकने का प्रयास) करने से (भी चित्त निर्मल हो जाता है)।

व्याख्या— चित्त को निर्मल करने वाले उपर्युक्त उपाय के अतिरिक्त यह भी एक उपाय हो सकता है कि प्राण वायु को बारम्बार बाहर निकालने और रोकने का अभ्यास किया जाए। इस सूत्र में सूत्रकार द्वारा प्राणायाम की प्रक्रिया में मुख्यत: रेचक और कुम्भक (बाह्य कुम्भक) का वर्णन किया गया है। अन्दर स्थित वायु को प्रयत्नपूर्वक नासारन्ध्रों से बाहर छोड़ने की क्रिया को 'प्रच्छर्दन' तथा बाहर छोड़ी हुई वायु को वहीं रोके रखने को 'विधारण' कहते हैं। अत: इन दोनों (प्रच्छर्दन और विधारण) क्रियाओं द्वारा प्राण का नियमन करे। प्राणायाम के कई प्रकार हैं- लोम-विलोम, सूर्य भेदन, उज्जायी, शीतली, भ्रामरी, मूर्च्छा प्राणायाम आदि। इन सभी में जिसका प्रयोग करना हो, उसका अभ्यास किसी अनुभवी मार्गदर्शक (गुरु) के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन में करना चाहिए। प्रारम्भ में जिस प्राणायाम को प्रयोग में लिया जाए, वह अपनी शारीरिक और मानसिक स्थिति के अनुरूप हो। रेचक, पूरक और कुम्भक प्राणायाम विषयक जानकारी यद्यपि साधनपाद में दी गई है, तथापि संक्षेप में यहाँ भी दे रहे हैं-

१. रेचक— श्वास को नासारन्ध्रों द्वारा बाहर निकालना।

२. पूरक— नासारन्ध्रों द्वारा श्वास को अन्दर ले जाना पूरक कहलाता है।

३. कुम्भक— वायु को रोककर रखना (बाहर अथवा अन्दर, वायु को बाहर रोकना बाह्य कुम्भक तथा अन्दर रोकना अन्त: कुम्भक कहलाता है); किन्तु इस सूत्र में प्रच्छर्दन और विधारण प्राणायाम का वर्णन किया गया है, जो कपालभाति प्राणायाम के समतुल्य है। इसमें सुखासन पर आसीन होकर शक्ति के अनुरूप रेचक ही किया जाता है, पूरक स्वत: हो जाता है, कुम्भक नहीं किया जाता। इसका अभ्यास हो जाने पर विधारण अर्थात् पेट से निकली हुई श्वास को अपनी शक्ति के अनुसार उचित समय तक रोकना चाहिए। ऐसा अभ्यास करने से मन और इन्द्रियों पर विजय मिल जाती है। प्राणवायु और इन्द्रियों का कार्य करना परस्पर सम्बद्ध है। प्राण का निरोध करने से मन एवं इन्द्रियाँ सरलता से निरुद्ध हो जाती हैं। योगशास्त्र में वायु के पाँच प्रकार हैं- १ प्राण २. अपान ३. समान ४. उदान ५. व्यान।

१. प्राणवायु — प्राणवायु वह है, जो हृदय से निकल कर नासिका तक विचरती है। यह श्वास को अन्दर-बाहर ले जाती, मुख-नाक से गति करती, खाये हुए अन्न को पचाती, अन्न की विष्ठा, पानी का स्वेद (पसीना), मूत्र बनाती; इसी प्रकार रस,वीर्य आदि का निर्माण करती है। ऊपर की इन्द्रियों का कार्य उसी के आश्रित है।

२. अपान वायु— यह नाभि से लेकर पैरों तक परिभ्रमण करती है। यह अपान वायु गुदा मार्ग से मल को, उपस्थ मार्ग से मूत्र को, अण्डकोशों से वीर्य को, उदरदरी से गर्भ को नीचे की ओर ले जाती है। इसी के अधीन निचली इन्द्रियों का कार्य है।

३. समानवायु— यह नाभि से हृदय तक विचरण करती है। पचे हुए रस को समस्त अङ्गों में नाड़ियों के माध्यम से पहुँचाने का कार्य समान वायु का ही है।

४. व्यानवायु— इसका स्थान लिङ्गेन्द्रिय से ऊपर माना गया है। समस्त नाड़ियों में रक्त संचार व्यानवायु ही करती है।

५. उदानवायु— यह कण्ठ से सिर तक संचरण करती है। शरीर को उठाये रखने का कार्य इसी का है।

इन पाँच प्राणों के अन्तर्गत ही नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय उपप्राण भी होते हैं। इनके कार्य इस प्रकार हैं- **नाग—** नागवायु छींकने का कार्य करती है। **कूर्म-** कूर्मवायु भूख लगाती है। **कृकल-** यह प्यास लगाती है। **देवदत्त-** यह निद्रा लाती है और **धनञ्जयवायु-** पोषण का कार्य करती है॥ ३४॥

अब मन को स्थिर करने के अन्य उपायों का वर्णन किया जा रहा है-

(३५) विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी॥ ३५॥

सूत्रार्थ— विषयवती =विषयवाली, प्रवृत्तिः = प्रवृत्ति, उत्पन्ना = उत्पन्न होकर के (वह), वा = अथवा (भी), स्थितिनिबन्धनी = स्थिति का निबन्धन करने वाली हो जाती है।

व्याख्या— इस सूत्र में वर्णन है कि उपर्युक्त उपायों के अतिरिक्त एक उपाय यह भी है कि विषयवाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर मन की स्थिति को बाँधने में समर्थ होती है। भावार्थ यह है कि इन्द्रियों के विभिन्न विषय — शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध हैं (ये ही पंचभूतों की पञ्च तन्मात्राएँ भी हैं)। इन विषयों से उत्पन्न साधना वृत्ति मन की स्थिति का निरोध करती है। यथा- नासाग्र के संयम से (अर्थात् ध्यान, धारणा, समाधि आदि के द्वारा चित्त को एकाग्र करने से) साधक को जिस दिव्य गन्ध का साक्षात्कार होता है, वह गन्ध प्रवृत्ति कहलाती है। जिह्वाग्र के संयम से साधक को जिस दिव्य रस का साक्षात्कार होता है, वह रस प्रवृत्ति कहलाती है। तालु में दिव्य रूप का साक्षात्कार होने से उसे रूप प्रवृत्ति कहते हैं। जिह्वा के मध्य भाग में चित्त को एकाग्र करने से दिव्य स्पर्श का साक्षात्कार होने को स्पर्श प्रवृत्ति तथा जिह्वा के मूल में संयम करने को शब्द प्रवृत्ति कहते हैं। इस प्रकार ये विभिन्न प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त की स्थिति को बाँधती हैं। अतः साधक को सम्पूर्ण श्रद्धा और विश्वासपूर्वक किसी समर्थ गुरु के मार्गदर्शन में इन प्रवृत्तियों में से किसी एक से अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए।

योग दर्शन के प्रख्यात भाष्यकार महर्षि पतञ्जलि ने विषयवत्त्व का अतिदेश करते हुए रूप प्रवृत्ति को विषयवती कहने से ही चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि और दीपक आदि की किरणों में संयम से उत्पन्न होने वाली प्रवृत्ति (साक्षात्कार) को भी विषयवती प्रवृत्ति कहा है॥ ३५॥

इसके अतिरिक्त मन को स्थिर करने की एक और प्रवृत्ति बताते हैं-

(३६) विशोका वा ज्योतिष्मती॥ ३६॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा इसके अतिरिक्त, विशोका = शोकरहित, ज्योतिष्मती = ज्योतिष्मती (प्रकाशवाली) वृत्ति मन को स्थिर करने वाली होती है।

व्याख्या— जैसे विषयवती प्रवृत्ति मन को स्थिर कर देती है, उसी प्रकार विशोका (शोकरहित) नामक प्रवृत्ति भी मन को स्थिर कर देती है। विषयवती प्रवृत्ति के नासाग्र, जिह्वाग्र, जिह्वामध्य आदि पाँच स्थान माने गये हैं, वहाँ मन को एकाग्र करने से मन स्थिर हो जाता है, इसी प्रकार विशोकावृत्ति में हृदयकमल (हृत्पद्म) में मन को स्थिर करके चित्त की एकाग्रता सध जाती है। प्रारम्भ में रजोगुण और तमोगुण से उद्भूत जो शोक-मोह आदि विकार हैं, उनका निराकरण कर लेने और अज्ञान अन्धकार दूर करने के लिए ज्ञानरूपी दीपक जला लेने से सतोगुण प्रधान निर्मलवृत्ति का आविर्भाव होता है, उससे मन स्थिरता को प्राप्त कर लेता है।

इसके अभ्यास के लिए इस स्थिति को समझ लेना आवश्यक है। हृदय स्थान में कमल सदृश एक सूक्ष्म ग्रन्थि है, उसे हृत्पद्म कहते हैं, यह आठ पंखुड़ियों वाला अष्टदल कमल है, जिसका मुख नीचे और जड़ें ऊपर की ओर हैं तथा पंखुड़ियाँ बन्द हैं। जब प्राणायाम का अभ्यास लम्बे समय तक किया जाता है, तब इस अधोमुखी हृदय कमल का मुख ऊर्ध्वमुखी हो जाता है। जिस प्रकार कली खिलकर फूल के रूप में विकास को प्राप्त करती है, वही स्थिति इस हृत्पद्म की हो जाती है। इस हृत्पद्म के मध्यभाग में 'ॐकार' स्थित है। ॐकार में तीन वर्ण अ, उ और म् हैं। जिनमें 'अ' सूर्यरूप, 'उ' चन्द्ररूप और 'म्' अग्नि मण्डल स्वरूप है। उसके ऊपर (ँ) अर्धमात्रा अनुस्वार ब्रह्मानन्द स्वरूप अवस्थित है। कमल कलियों में ऊर्ध्वमुखी सुषुम्ना नाड़ी है, जो मूर्धा तक विकसित हुई है। मूर्धा के बाहर भी यह नाड़ी सूर्य आदि लोकों से सम्बद्ध है। इसी नाड़ी (ब्रह्मनाड़ी) में चित्त का निवास माना गया है। ध्यान-प्राणायाम आदि माध्यमों से जब हृदय का साक्षात्कार एवं विकास होता है, तब उसमें रहने वाला चित्त सूर्य, चन्द्र, मणि आदि ज्योतियों के रूप में दृष्टिगोचर होता है, इसी साक्षात्कार को 'ज्योतिष्मती' कहते हैं, इस 'ज्योतिष्मती प्रवृत्ति' के उदित होने पर रजोगुण और तमोगुण से उत्पन्न शोक आदि निवृत्त हो जाते हैं। इसलिए यह विशोका वृत्ति कहलाती है॥ ३६॥

अब मन की स्थिरता के अन्य उपायों का वर्णन किया जा रहा है-

(३७) वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ ३७॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, वीतरागविषयम् = वीतराग पुरुषों का विषय करने वाला, चित्तम् = चित्त (भी स्थिर हो जाता है)।

व्याख्या— जिनके राग-द्वेष विनष्ट हो चुके हैं, ऐसे योगियों को ध्येय बनाकर अपना भाव वैसा ही बना करके अभ्यास करने वाला चित्त भी स्थिरता प्राप्त कर लेता है। भावार्थ यह है कि शुकदेव जैसे वीतराग सन्तों को लक्ष्य (आदर्श) मानकर अपनी मन:स्थिति भी उन्हीं की तरह बना लेने से उन्हीं की तरह अनुभूतियाँ होने लगती हैं। इस अभ्यास में मात्र इतना कहना पर्याप्त नहीं है कि 'इस योगी का चित्त कितना निर्मल है,' वरन् यह सोचना कि निर्मलचित्त होकर इन्हें सांसारिक पदार्थ कैसे लगते होंगे? इस अनुभव की भावना अपने अन्दर भी करने से अपना चित्त भी उस योगी के चित्त की स्थिति में ही पहुँच जाता है। ऐसी साधना करने से भी चित्त निर्मल और स्थिर हो जाता है॥ ३७॥

अब चित्त स्थिर होने के अन्य उपायों का भी वर्णन किया जा रहा है-

(३८) स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ॥ ३८॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम् = जो चित्त स्वप्न एवं निद्रा के ज्ञान का अवलम्बन करने वाला (आश्रय लेने वाला) है, वह भी स्थिर हो सकता है।

व्याख्या— कई बार ऐसा होता है कि स्वप्न में जो अलौकिक पदार्थ देखे जाते हैं, उनसे भी चित्त को बहुत आनन्द होता है। कई बार ऐसा जाग्रत् अवस्था में भी नहीं हो पाता। जैसे किसी इष्टदेव, गुरुदेव के दर्शन होना, स्वप्न में ही राजा, योगी अथवा महापुरुष बन जाना या कोई अद्‌भुत सफलता पाना आदि स्वप्नों से अत्यन्त प्रसन्नता होती है। ऐसे स्वप्नों की याद करने अर्थात् वैसा ही भाव बाद में मन में करने से भी मन स्थिर हो जाता है। यह साधना उन्हीं साधकों के लिए शक्य है, जिन्होंने जाग्रत् स्थिति की अपेक्षा कभी स्वप्न में असाधारण आनन्द का दर्शन किया हो। स्वप्न का आश्रय लेने का एक अर्थ यह भी है कि संसार को स्वप्नवत्-क्षणभङ्गुर देखने तथा इसकी नश्वरता के भाव को दृढ़ करने से लौकिक वासनाओं एवं तृष्णाओं की व्यर्थता समझ में आती है, जिससे मन (चित्त) स्थिर हो जाता है।

निद्रा के आश्रय का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि प्रगाढ़ निद्रा में स्वप्न की स्थिति नहीं रहती, उसमें सुख-दु:ख से रहित स्थिति में चित्त की वृत्तियों के अभाव का ज्ञान होता है, किसी अन्य पदार्थ की प्रतीति नहीं होती। ऐसे उस ज्ञान (अनुभव) को अन्त:करण में स्थित करने से चित्त स्थिर हो जाता है।

इस स्वप्न और निद्रा के आश्रय का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि स्वप्न और सुषुप्तावस्था में जाग्रत् विषय का ज्ञान एवं इन्द्रियों का चाञ्चल्य नष्टप्राय हो जाता है, इसी प्रकार ज्ञान का आश्रय लेने से बाह्य वृत्तियाँ विनष्ट हो जाती हैं और चित्त स्थिर हो जाता है॥ ३८॥

अब मन को स्थिर करने का उपाय 'अभिरुचि के अनुसार ध्यान करने' को बताते हैं-

(३९) यथाभिमतध्यानाद्वा॥ ३९॥

सूत्रार्थ— वा=अथवा,यथाभिमत ध्यानात्=जिसका जैसा अभिमत हो उसके ध्यान से भी (मन स्थिर हो जाता है)।

व्याख्या— इस सूत्र में संकेत है कि चौतीसवें सूत्र से यहाँ तक निरन्तर 'वा' शब्द द्वारा चित्त को स्थिर करने के वैकल्पिक उपाय बताये गये हैं, उनमें से जिसको जो उपाय अनुकूल लगे, उसका अभ्यास करके चित्त को स्थिर करे; किन्तु यदि उन उपायों में से कोई उपाय अनुकूल न हो, तो साधक अपनी इच्छा से चयनित अथवा अपने निर्धारित इष्टदेव के स्वरूप का ध्यान करने का अभ्यास करे। इससे भी मन स्थिर हो सकता है।

सार रूप में यह कहा जा सकता है कि चित्त को स्थिर करने के लिए मन को किसी स्थूल मूर्ति में एकाग्र करना चाहिए, जो साधक को बहुत प्रिय हो। वह मूर्ति किसी देवता, गुरु, माता, पिता किसी की भी हो सकती है। स्थूल पदार्थ (मूर्ति-चित्र आदि) में मन एकाग्र हो जाता है और निरन्तर अभ्यास से वह सतत स्थिर भी बना रहता है॥ ३९॥

अब चित्त स्थिर होने पर क्या स्थिति व स्वरूप तथा क्या फल होता है? इसका वर्णन किया जायेगा-

(४०) परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार:॥ ४०॥

सूत्रार्थ— परमाणुपरममहत्त्वान्त: = परमाणु से परम महत्त्वपर्यन्त, अस्य = इस (स्थिर) चित्त का, वशीकार: = वशीकरण करना सरल होता है।

व्याख्या— पूर्व में वर्णित उपायों से मन इतना स्थिर और एकाग्र हो जाता है कि वह नियन्त्रित हो जाता है। तदुपरान्त ऐसी स्थिति हो जाती है कि लघु से लघु परमाणु से लेकर अन्तरिक्ष पर्यन्त किसी भी तत्त्व में (मन को) लगाने की इच्छा करे, तो वह चञ्चलता छोड़कर सहज ही लग जाता है। वस्तुत: एकाग्रता द्वारा चित्त का वश में हो जाना महत्त्वपूर्ण सफलता है। वशीकार (वशीकरण) से जब योगी का

चित्त पूर्ण रूपेण स्थिरता को प्राप्त कर लेता है, तब पुन:-पुन: अभ्यास करने की आवश्यकता नहीं रहती।

व्यावहारिक तथ्य— उपर्युक्त साधना हेतु साधक को चाहिए कि वह किसी अनुभवशील परमार्थ-परायण पथ-प्रदर्शक से इस क्रिया-विधि का प्रशिक्षण प्राप्त करे। अभ्यास हेतु किसी एकान्त स्थान का चयन कर वहाँ प्रात:-सायंकाल न्यूनतम १-२ घंटे बैठकर ध्यान करे। पद्मासन (दोनों जंघाओं को दोनों पैरों से दबाकर) में अथवा सिद्धासन, वज्रासन, स्वस्तिकासन में बैठकर पीठ (रीढ़ की हड्डी), गर्दन और सिर को सीधा करके बैठकर खेचरी मुद्रा करे। अभक्ष्य और मादक पदार्थों का सेवन न करे। साथ ही तेल, मिर्च, खटाई, गरिष्ठ और कफ वर्धक पदार्थों का सेवन भी न करें। इसी प्रकार आलस्य, रोग उत्पन्न करने वाले पदार्थों का सेवन भी न करे। कुसंग का परित्याग करे तथा क्रोध, शोक, भय और मैथुन से यथा सम्भव बचने का प्रयास करे। शरीर को शुद्ध और आँतों को मल रहित करने के लिए 'नेति-धौति' क्रियाएँ करे। शारीरिक ब्रह्मचर्य के साथ ही मानसिक ब्रह्मचर्य का भी पालन करे। इस साधना में जो अनुभव हो, उसे किसी अन्य से अनावश्यक प्रकट न करे। इस प्रकार उपर्युक्त सभी बातों का ध्यान रखने से साधना में शीघ्र सफलता मिलती है॥ ४०॥

उपर्युक्त सभी उपायों से चित्त पर अधिकार हो जाता है और चित्त निर्मल होकर समाधि की क्षमता प्राप्त हो जाती है, तदुपरान्त सम्प्रज्ञात और निर्बीज समाधि की स्थिति क्रमश: कैसे प्राप्त होती है? इसका वर्णन आगे किया जा रहा है-

(४१) क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु-
तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः ॥४१॥

सूत्रार्थ— क्षीणवृत्तेः = जिसकी सभी बाह्य वृत्तियाँ क्षीणता को प्राप्त हो चुकी हैं, ऐसे; मणेः इव अभिजातस्य = स्फटिक मणि सदृश निर्मल चित्त का, ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु = ग्रहीता (आत्मा-पुरुष) ग्रहण (अन्त:करण और इन्द्रियाँ), ग्राह्य (पञ्चभूत एवं इनके विषय) में, तत्स्थतदञ्जनता = स्थित होना और तदाकार हो जाना ही, समापत्तिः = सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है।

व्याख्या— निरन्तर पूर्व वर्णित अभ्यास करते-करते जब मन की रजोगुणी और तमोगुणी वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, तब साधक में मात्र सतोगुण ही शेष रह जाता है। उसका चित्त स्फटिक मणि अथवा शीशे की तरह स्वच्छ हो जाता है। स्वच्छ स्फटिक मणि के समक्ष जिस रंग का पदार्थ रखा हो, वह मणि भी उसी तरह की भासित होने लगती है। इसी तरह एकाग्र और स्थिर चित्त होकर जब सतोगुणी वृत्तियों के सम्पर्क में आता है, तब वह भी सत्त्वगुण से ओत-प्रोत भासित होता है। मन, इन्द्रिय, आत्मा और बाह्य विषय भी सत्त्व में स्थित हो जाने से सत्त्व प्रधान होते हैं। सत्त्वगुण में तदाकार और तन्मय हो जाने से जो(निर्विकार)स्थिति प्राप्त होती है,उसे 'समापत्ति स्थिति' या 'सम्प्रज्ञात' समाधि कहा जाता है ॥४१

अब समापत्ति के चार भेद बताते हैं-

(४२) तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२॥

सूत्रार्थ— तत्र = उनमें, शब्दार्थज्ञानविकल्पैः = शब्द, अर्थ और ज्ञान के विविध विकल्पों (प्रकारों) से, संकीर्णा = मिली हुई, सवितर्का = सवितर्क नामक, समापत्तिः = समाधि है।

व्याख्या— शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों ही कहीं एक रूप से रहते हैं और कहीं पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। जैसे 'गौ' शब्द, गौ शब्द का अर्थ और गौ शब्द का ज्ञान — ये तीनों अलग-अलग हैं। गौ एक शब्द है, जिसके उदात्त, अनुदात्त आदि धर्म हैं। इसी प्रकार गौ का अर्थ एक विशेष प्राणी है, जो एक विशेष आकृति युक्त तथा सींग युक्त मादा होती है तथा जो दूध देती है आदि। 'गौ' आदि शब्द या अर्थ-

विषयक जो प्रतीति है, वह उसका ज्ञान है। ज्ञान का धर्म प्रकाश है- अर्थ बोध है। यद्यपि ये तीनों अलग हैं; किन्तु निरन्तर अभ्यास तथा एक से दूसरे का सम्बन्ध होने के कारण एक के ज्ञान से दूसरे का भी ज्ञान हो जाता है, अतः सब एक हैं। योगी की जिस अवस्था में ये सभी (शब्द, अर्थ और ज्ञान) मिश्रित होकर अपने-अपने रूप में प्रतिभासित होते हैं, उसे सवितर्क या सवितर्का समापत्ति (समाधि) कहते हैं। इसी को सविकल्प समाधि भी कहते हैं॥ ४२॥

अब निर्वितर्क समापत्ति का वर्णन किया जा रहा है-

(४३) स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥ ४३॥

सूत्रार्थ— स्मृतिपरिशुद्धौ = स्मृति के भलीभाँति निवृत्त (शुद्ध) हो जाने पर, स्वरूपशून्या इव = अपने रूप से शून्य हुई की तरह, अर्थमात्रनिर्भासा = केवल अर्थ का भान कराने वाली (चित्त की स्थिति), निर्वितर्का = निर्वितर्क समाधि है।

व्याख्या— विगत काल में हुए कड़ुवे-मीठे अनुभवों के आधार पर जो सुख-दुःख, राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं, उनका जब निवारण हो जाता है, तब वह स्थिति स्मृति शुद्ध कही जाती है। योगी इस स्थिति को पाकर अन्तर्मुखी हो जाता है और अपनी आत्मा में ही सीमित होकर परमात्मा में रमण करता है। यही स्थिति निर्वितर्क समाधि है। इस स्थिति में शब्द और प्रतीति का कोई विकल्प नहीं रह जाता, इसलिए इसे निर्विकल्प समाधि भी कहते हैं। दूसरे शब्दों में इसे इस तरह भी कहा जा सकता है कि जब साधक के चित्त में ध्येय वस्तु के नाम का लोप हो जाता है तथा उसको विषय करने वाली चित्तवृत्ति भी स्मृति में नहीं रहती, उस समय अपने स्वरूप का भी भान नहीं रहता, यह स्थिति स्वरूप के (चित्त के स्वरूप के) अभाव वाली कहलाती है। ऐसी अवस्था में सभी प्रकार के विकल्पों का अभाव हो जाता है, जिसके कारण मात्र ध्येय-पदार्थ के साथ तदाकार हुआ चित्त ध्येय को प्रकट (प्रकाशित) करता है। इसी स्थिति को निर्वितर्क समाधि कहते हैं। यही निर्विकल्प समाधि भी है॥४३॥

सवितर्क और निर्वितर्क समाधि के लक्षण के पश्चात् अब सविचार और निर्विचार समाधि की स्थिति का वर्णन किया जा रहा है-

(४४) एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ ४४॥

सूत्रार्थ— एतया एव = इसी से ही (पूर्व में सवितर्क और निर्वितर्क समाधि के वर्णन से ही), सूक्ष्म विषया = सूक्ष्म पदार्थों में की जाने वाली, सविचारा = सविचार समाधि, निर्विचारा = निर्विचार समाधि, च = और, व्याख्याता = वर्णित की गई है।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में स्थूल ध्येय पदार्थों में की जाने वाली समाधि के दो भेद सवितर्क और निर्वितर्क समाधि का वर्णन किया गया है। अब सूक्ष्म ध्येय पदार्थों से सम्बन्धित समाधि के भी दो भेदों का वर्णन किया जा रहा है। जब किसी सूक्ष्म ध्येय पदार्थ का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए उसमें चित्त को एकाग्र किया जाता है, उस समय प्रथमतः उसके नाम, रूप और ज्ञान के विकल्पों से मिला हुआ अनुभव होता है, तो यह स्थिति सविचार समाधि है; किन्तु कुछ समय के अभ्यास के वाद जब चित्त को अपने नाम और ज्ञान का अर्थात् स्वरूप का विस्मरण हो जाता है तथा मात्र ध्येय-पदार्थ का ही अनुभव होता है, तब वह स्थिति निर्विचार समाधि कहलाती है॥ ४४॥

अब यह स्पष्ट कर रहे हैं कि सूक्ष्म पदार्थों में कौन-कौन पदार्थ माने गये हैं—

(४५) सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्॥ ४५॥

सूत्रार्थ— च = और, सूक्ष्मविषयत्वम्=सूक्ष्म विषयत्व, अलिङ्ग पर्यवसानम् = प्रकृति पर्यन्त है।

व्याख्या— इस सूत्र में सूक्ष्म विषयों की सीमा निरूपित की जा रही है। स्थूल विषयों का क्षेत्र पञ्चभूतों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तक सीमित है; किन्तु सूक्ष्म विषयों का क्षेत्र इन पञ्चभूतों की तन्मात्राओं तथा मूल प्रकृति तक है। पृथ्वी की तन्मात्रा गन्ध, जल की तन्मात्रा रस, अग्नि (तेज) की तन्मात्रा रूप, वायु की तन्मात्रा स्पर्श और आकाश की तन्मात्रा शब्द है। इन सभी का एवं मन सहित सभी इन्द्रियों का सूक्ष्म विषय अहंकार है। अहङ्कार का सूक्ष्म विषय महत्तत्त्व एवं महत्तत्त्व का सूक्ष्म विषय (अर्थात् कारण) प्रकृति (मूल प्रकृति) है।

इसके आगे कोई सूक्ष्म विषय नहीं है। यही सूक्ष्मता की सीमा है। सारांश यह है कि प्रकृति पर्यन्त किसी भी सूक्ष्म पदार्थ को लक्ष्य करके उसमें की हुई समाधि को सविचार और निर्विचार समाधि के अन्तर्गत मानना चाहिए। यद्यपि पुरुष (परमात्मा) प्रकृति से भी सूक्ष्म है; किन्तु वह दृश्य पदार्थों के परे है, अतः उसे इसमें नहीं माना गया है॥ ४५॥

अब उपर्युक्त सभी समाधियाँ सबीज समाधि हैं, यह वर्णन कर रहे हैं-

(४६) ता एव सबीजः समाधिः॥ ४६॥

सूत्रार्थ— ता एव = वे सभी, सबीजः = सबीज, समाधिः = समाधि हैं।

व्याख्या— विगत सूत्रों में जिन चार प्रकार की समाधियों का वर्णन किया गया है, उनमें निर्वितर्क और सवितर्क समाधियाँ आधार सहित हैं तथा निर्विचार और सविचार समाधियाँ आधार रहित हैं। ये सभी प्रकार की समाधियाँ सबीज हैं, निर्बीज नहीं; क्योंकि इनमें सभी वृत्तियाँ पूर्णतः निरुद्ध नहीं हो सकतीं। अतः इनमें कैवल्य स्थिति तक पहुँच सकना सम्भव नहीं होता, तो भी इनके अभ्यास से साधक बहुत उच्च स्थिति में पहुँच सकता है॥ ४६॥

अब उपर्युक्त चार प्रकार की समाधियों में निर्विचार समाधि की श्रेष्ठता का प्रतिपादन उसकी स्थिति और फल सहित किया जा रहा है-

(४७) निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः॥ ४७॥

सूत्रार्थ— निर्विचारवैशारद्ये = निर्विचार समाधि में अत्यन्त प्रवीण हो जाने पर (साधक), अध्यात्मप्रसादः = अध्यात्म का प्रसाद प्राप्त करता है।

व्याख्या— निर्विचार समाधि का वैशारद्य (विशारदता) अर्थात् प्रवीणता होने पर योगी को अध्यात्म प्रसाद प्राप्त होता है। तात्पर्य यह है कि निर्विचार समाधि का अभ्यास करते-करते उसमें इतनी प्रवीणता प्राप्त हो जाती है कि योगी को एक ही काल में समस्त पदार्थ विषयक यथार्थ ज्ञान हो जाता है। साधक का चित्त एकदम निर्मल हो जाता है। तात्पर्य यह है कि निर्विचार समाधि की स्थिति में रजोगुण और तमोगुण का आवरण अर्थात् मल क्षीण हो जाता है और सत्त्वगुण की प्रधानता हो जाती है, जिससे चित्त अत्यन्त निर्मल हो जाता है। यही स्थिति समाधि की विशारदता (वैशारद्य) है। जब यह विशारदता (प्रवीणता) निरन्तर अभ्यास से प्राप्त हो जाती है, तब योगी को प्रकृति के सभी तत्त्वों का एक ही काल में साक्षात्कार हो जाता है। इसी को अध्यात्म प्रसाद-प्रज्ञालोक कहा जाता है। इस स्थिति में पर्वत पर खड़ा होकर मनुष्य जिस प्रकार नीचे धरती के मनुष्यों को देखता है, उसी प्रकार योगी भी संसार-प्रकृति के पदार्थों को देखता है॥ ४७॥

अध्यात्म प्रसाद प्राप्त हो जाने पर योगी को जिस प्रकार की बुद्धि प्राप्त होती है, अगले सूत्र में उसी का वर्णन किया जा रहा है-

(४८) ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा॥ ४८॥

सूत्रार्थ— तत्र = उस समय (वहाँ योगी की), प्रज्ञा = बुद्धि, ऋतम्भरा = ऋतम्भरा (सत्य को धारण करने वाली) होती है।

व्याख्या— उस समय (उपर्युक्त स्थिति में पहुँच जाने पर) योगी की बुद्धि (प्रज्ञा), ऋतम्भरा अर्थात् सत्य को धारण करने वाली हो जाती है। तात्पर्य यह है कि अध्यात्म प्रसाद (प्रज्ञालोक) की स्थिति प्राप्त होने पर योगी समाहित चित्त वाला हो जाता है, जिससे उत्पन्न हुई प्रज्ञा (बुद्धि) ऋतम्भरा अर्थात् सत्य को धारण करने वाली हो जाती है। इस स्थिति में किसी भी विषय में भ्रान्ति का लेश मात्र भी नहीं रहता। अविद्या, संशय, विपर्यय भी पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं। यह ऋतम्भरा प्राप्त होने पर साधक सत्य का ही दर्शन करता है, सत्य ही प्रकट करता है तथा सत्य ही ग्रहण करता है॥ ४८॥

अब बुद्धि की अन्य विशेषताओं का भी वर्णन करते हैं-

(४९) श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥ ४९॥

सूत्रार्थ— श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्याम् = श्रुत (श्रवण) और अनुमान से प्राप्त होने वाली बुद्धि की अपेक्षा, अन्य विषया = यह बुद्धि अन्य (भिन्न) विषय वाली है, विशेषार्थत्वात् = क्योंकि यह विशेष रूप से अर्थ का साक्षात्कार करने वाली है।

व्याख्या — श्रुत अर्थात् वेद, शास्त्र और आप्त पुरुषों के वचनों से प्राप्त ज्ञान तथा अनुमान (युक्ति) प्रमाण पर आधारित ज्ञान से किसी वस्तु-विषय की जानकारी सीमित होती है, पूर्ण जानकारी नहीं हो पाती; क्योंकि बहुत से सूक्ष्म विषय ऐसे हैं, जिनमें अनुमान प्रमाण की पहुँच ही नहीं है। इसी प्रकार वेद-शास्त्रों आदि में किसी वस्तु पदार्थ के स्वरूप का जो वर्णन किया गया है, वह सुना हुआ होने से श्रुत है (इसलिए वेद-शास्त्रों को श्रुति कहते हैं)। अतः ऐसे माध्यम से विषयों के विषय में जो धारणा बनती है, वह श्रुत बुद्धि है। अनुमान आदि से किसी विषय के स्वरूप का जो निश्चय होता है, वह अनुमान बुद्धि है; किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा सत्य पर आधारित है। अतः इसके द्वारा रहस्यमय तथ्यों का भी उद्घाटन हो जाता है, जिसे साधारण बुद्धि से जानना सम्भव नहीं है। साधारण बुद्धि जो श्रुति अथवा अनुमान आदि पर आधारित है, वह किसी विषय का उद्घाटन अङ्ग-प्रत्यङ्गों सहित नहीं कर सकती है अर्थात् मोटे रूप में ही वर्णन कर सकती है; किन्तु ऋतम्भरा प्रज्ञा सत्य को धारण करने वाली बुद्धि वस्तु के यथार्थ स्वरूप का अङ्ग-प्रत्यङ्गों सहित ज्ञान (निश्चय) कराती है। अतः यह उपर्युक्त दोनों प्रकार की बुद्धियों (श्रुत और अनुमान बुद्धि) से अन्य (भिन्न) और श्रेष्ठतम है॥ ४९॥

अब ऋतम्भरा प्रज्ञा की अन्य विशेषताओं का भी वर्णन किया जा रहा है-

(५०) तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी॥ ५०॥

सूत्रार्थ— तज्जः = उससे उत्पन्न होने वाला, संस्कारः = संस्कार, अन्यसंस्कारप्रतिबन्धी = अन्य संस्कारों को बाधित करने वाला (रोकने वाला) है।

व्याख्या— जब योगी को ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त हो जाती है, तब वह संसार के प्रत्येक पदार्थ के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार कर लेता है। इसके अतिरिक्त वह, जन्म-जन्मान्तरों के संस्कार बीज जो कर्माशय में पड़े हैं और जो मनुष्य को संसार के आवागमन चक्र में बार-बार भटकाने में प्रमुख कारण स्वरूप होते हैं, को भी (ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा) विनष्ट करने में समर्थ होता है। जब ये संचित संस्कार विनष्ट हो जाते हैं, तभी मुक्ति की स्थिति प्राप्त होती है। वस्तुतः ऋतम्भरा प्रज्ञा इन संस्कारों (जो जन्म लेने में मुख्य कारक होते हैं) को ठहरने ही नहीं देती और उन्हें बाहर निकालती रहती है। कारण यह है कि ऋतम्भरा प्रज्ञा प्राप्त योगी प्रकृति के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, जिससे उसके अन्तःकरण में प्रकृति

और उसके कार्यों के प्रति वैराग्य भाव जाग्रत् हो जाता है। फलत: वैराग्य के संस्कार से पूर्व संचित राग-द्वेषमय संस्कारों का विनाश हो जाता है। जब कोई संस्कार बचते ही नहीं, तो फिर आगे जन्म लेने का मार्ग ही बन्द हो जाता है और भव-बन्धन से मुक्ति का पथ-प्रशस्त हो जाता है और योगी अति शीघ्र मुक्त अवस्था के निकट पहुँच जाता है अर्थात् मुक्ति प्राप्त कर लेता है॥ ५०॥

अब निर्बीज समाधि रूप (कैवल्य) अवस्था का वर्णन कर रहे हैं-

(५१) तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः॥ ५१॥

सूत्रार्थ— तस्य = उसका, अपि = भी , निरोधे = निरोध होने पर, सर्वनिरोधात् = सभी (संस्कारों) का निरोध हो जाने से, निर्बीज: = निर्बीज (बीज रहित), समाधि: = समाधि की स्थिति हो जाती है।

व्याख्या— जब ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कार के प्रभाव से अन्य सभी संस्कार नष्ट हो जाते हैं, तत्पश्चात् ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न उन उच्च संस्कारों से भी आसक्ति न रहने से उन संस्कारों का भी निरोध हो जाता है, तब सम्पूर्ण सुध-बुध का ही निरोध हो जाता है। उस स्थिति में इस संसार की प्रकृति का कोई बीज शेष नहीं रहता (सभी प्रकार के संस्कारों के बीज समाप्त हो जाते हैं)। अत: इस अवस्था का नाम निर्बीज समाधि कहा गया है। इस स्थिति में चित्त में कोई वृत्ति शेष नहीं रहती। चित्त वृत्तियों का सम्पूर्ण निरोध होने से पुरुष किसी बाह्य दृश्य का द्रष्टा नहीं रहता और शुद्ध परमात्म स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। चूँकि इस अवस्था में संस्कार बीज का समूल नाश हो जाता है (संस्कारों का बीज भी शेष नहीं रहता)। अस्तु, इस अवस्था को निर्बीज समाधि की संज्ञा दी गई है। यही स्थिति कैवल्य अवस्था है॥ ५१

॥ इति समाधिपादः समाप्तः ॥

॥ अथ साधनपादः ॥

प्रथम (समाधि) पाद में सहज शुद्धान्तःकरण से युक्त साधकों के लिए योग का स्वरूप, उसके भेद एवं उसके फल का संक्षिप्त विवेचन किया गया है। इसके साथ ही संप्रज्ञात-असंप्रज्ञात समाधि तथा योग के प्रमुख उपायभूत अभ्यास, वैराग्य एवं ईश्वर प्रणिधान आदि अन्य साधनों का भी उल्लेख किया गया है; परन्तु उनसे स्वाभाविक सहज शुद्धान्तःकरण सम्पन्न योगीजन ही लाभ उठा सकते हैं। अतः यहाँ इस द्वितीय (साधन) पाद में सामान्य साधकों के लिए क्रमानुसार अन्तस् की सहज निर्मलता पूर्वक निर्बीज-समाधि को प्राप्त करने के उपाय को प्रतिपादित कर रहे हैं। इस 'साधन पाद' में सर्वप्रथम 'क्रियायोग' को विवेचित किया गया है। चित्त की निर्मलता का सहज उपक्रम ही 'क्रियायोग' कहलाता है—

(५२) तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि = तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान अर्थात् (शरणागति (ये तीनों ही), क्रियायोगः = क्रियायोग है।

व्याख्या— योग-पथारूढ़ साधक के लिए सर्वप्रथम देह, प्राण एवं मन के सहित समस्त इन्द्रियों को तप आदि क्रियाओं के द्वारा इस योग्य विनिर्मित कर लेना चाहिए कि जिससे शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख आदि द्वन्द्वों की अवस्था में बिना विक्षेप के योग-पथारूढ़ रह सके। योग-पथ में प्रवृत्त साधक को तामसी तप, जिससे देहादि में पीड़ा, इन्द्रियों में विकारग्रस्तता तथा चित्त में दुःख, क्लेश हो, ऐसा नहीं करना चाहिए। यहाँ इस 'साधन पाद' में योगिराज पतञ्जलि ने सर्वप्रथम तप रूपी साधन को ही विवेचित किया है।

१. तप— शास्त्रों में तीन प्रकार के तप का उल्लेख मिलता है, यथा— कायिक, वाचिक एवं मानसिक। जिस प्रकार से धातु को आग में तप्त करने पर पूर्ण शुद्धता आ जाती है, उसी प्रकार से कायिक, वाचिक एवं मानसिक तप से अन्तःकरण पवित्र हो उठता है।

क. कायिक— कायिक तप के अन्तर्गत शारीरिक तप आते हैं,— जैसे जाड़ा-गर्मी में अपने को संतुलित बनाकर रखना, निराश (खिन्न) न होना, समय के अनुकूल प्राणिमात्र की सहायता एवं परोपकार करना, काया निर्वाह हेतु जो भी सात्त्विक आहार मिले, उसी में सन्तुष्ट रहना तथा व्रत-उपवासादि करते रहना। ये सभी कायिक तप कहे गये हैं।

ख. वाचिक— वाचिक तप के अन्तर्गत मन, वचन एवं कर्म से सत्य का आचरण करना, प्रिय भाषण, बड़ों का सम्मान व छोटों को प्यार-स्नेह, वाणी से कटु शब्द न बोलना, व्यर्थ वार्तालाप न करना तथा मौन व्रत पालन करना। ये सभी वाचिक तप कहे गये हैं।

ग. मानसिक तप— हिंसात्मक वृत्ति एवं कठोर भावनाओं का परित्याग कर, पवित्र श्रेष्ठ सद्विचारों को मन में धारण करना ही मानसिक तप कहा गया है। कामनारहित भावना द्वारा उपर्युक्त तीनों तप करने से साधक का अन्तःकरण अनायास ही पूर्ण पवित्र हो जाता है। गीता में इसे 'कर्मयोग' के नाम से व्यक्त किया गया है।

२. स्वाध्याय— स्वयं अपने जीवन का समीक्षात्मक अध्ययन ही स्वाध्याय कहलाता है। जिस ज्ञान से स्वकर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का बोध हो सके, ऐसे वेद, शास्त्र, उपनिषद्, आध्यात्मिक महान् पुरुषों के जीवन-वृत्त आदि का पठन-पाठन, मनन-चिन्तन करना और शास्त्रोक्त निन्दित कर्मों को त्यागकर परमात्मा के ॐकार आदि या किसी देवता का नाम या गायत्री मंत्र का जप करना भी स्वाध्याय के अन्तर्गत ही आता है।

३. ईश्वर प्रणिधान— ईश्वर की शरण में अपने आपको समर्पित कर देना ही ईश्वर प्रणिधान है। मन, वचन, कर्म से उस परमात्मतत्त्व की भक्ति, नाम, रूप, गुण, लीला एवं प्रभाव आदि का गुणानुवाद करते हुए, उसी में मनन-चिन्तन करते हुए समस्त वृत्तियों को समर्पित कर देना। देह, इन्द्रियाँ, अन्त:करण, प्राण, मन, बुद्धि, चित्त आदि को तथा उनके द्वारा होने वाले कर्मों एवं उनके फल को बाह्य एवं अन्तस् को ईश्वर में समर्पित कर देना, उसी से अनन्य प्रेम करना —ये सभी ईश्वर-प्रणिधान के अंग हैं। यद्यपि तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान — ये तीनों ही योग के आठ अंगों में आ जाते हैं, जिनका विवेचन आगे के सूत्रों में करेंगे; किन्तु इनकी विशेष महिमा होने के कारण क्रियायोग के नाम से इनका अलग वर्णन किया गया है॥ १ ॥

(५३) समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥ २॥

सूत्रार्थ— समाधिभावनार्थः = निश्चय ही वह (क्रियायोग) समाधि की सिद्धि करने वाला, च = और, क्लेशतनूकरणार्थः = अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करने वाला है।

व्याख्या— निश्चय ही वह क्रियायोग अन्त:करण, चित्त आदि को विकारों से शिथिल-क्षीण करके समाधि की प्राप्ति में सहयोगी होता है। अन्तस् चित्त आदि में दीर्घावधि से संचित पड़े हुए अविद्यादि क्लेशों के संस्कार बीज रूप में सन्निहित रहते हैं। क्रियायोग (कर्मयोग) उनका शिथिलीकरण करके क्षीण करने की साधना है। तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान रूप क्रियायोग के द्वारा कायिक, वाचिक एवं मानसिक क्लेशादि विकारों का शमन होता है। अविद्यादि क्लेशों के शिथिल होते ही अभ्यास-वैराग्य द्वारा क्रम से सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। अभ्यास द्वारा सर्वाधिक उच्च स्थिति में पहुँचने पर ज्ञान लाभ की प्राप्ति होते ही क्षीण हुए क्लेशों के संस्कार रूप विकार भी जलकर भस्म हो जाते हैं। जब 'पर-वैराग्य' के संस्कारों का विकास होता है, तो चित्त को आत्मलाभ की प्राप्त हुई स्थिति भी समाप्त होकर असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। यह सब क्रियायोग (कर्मयोग) को अभ्यास पूर्वक करने से ही सम्भव है। अत: क्रियायोग के अभ्यास द्वारा ही समाधि की सिद्धि एवं अविद्या-अस्मिता आदि क्लेशों में क्षीणता आती है अर्थात् अविद्यादि पाँचों क्लेशों का पूर्णरूपेण समापन होकर पूर्ण सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है॥ २॥

(५४) अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ ३॥

सूत्रार्थ— अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः = अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश; पञ्च = ये पाँचों; क्लेशाः = क्लेश हैं।

व्याख्या— अविद्या आदि पाँच क्लेश निम्नवत् हैं — १. अविद्या २. अस्मिता ३. राग ४. द्वेष ५. अभिनिवेश। ये पाँचों क्लेश सम्पूर्ण प्राणिमात्र को जगत् के प्रपञ्चों के बन्धन रूप विकारों में आबद्ध कर पीड़ित करते रहते हैं। चित्त में स्थिर (बने) रहने के कारण संस्कार रूप गुणों के परिणाम को पुष्ट करते रहते हैं अर्थात् जाति, आयु, भोग एवं कर्मफल आदि ये सभी क्लेशों के ही कारण हैं। ये क्लेश महान् दु:ख

के प्रदाता हैं। इन क्लेशों को दूसरे अपर नामों से भी जाना जाता है, यथा — -मिथ्याज्ञान, विपर्ययज्ञान, भ्रान्तिज्ञान एवं अज्ञान आदि। सांख्य के अन्तर्गत अविद्या को तम, अस्मिता को मोह, राग को महामोह, द्वेष को तामिस्र और अभिनिवेश को अन्धतामिस्र के रूप में परिभाषित किया गया है। ये पाँचों क्लेश मिथ्या ज्ञान ही हैं। इन सभी क्लेशों का मूल कारण अविद्या (अज्ञानता) है। सूत्रकार ने यहाँ पर स्पष्ट किया है कि ये अविद्यादि पाँचों क्लेश सम्पूर्ण जीवमात्र को संसारचक्र में आवागमन स्वरूप भ्रमण कराने वाले महादु:ख प्रदान करने वाले हैं। इसलिए सूत्रकार ने इन्हें क्लेश नाम से व्यक्त किया है॥ ३॥

(५५) अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥ ४॥

सूत्रार्थ— प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् = जो प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार —(इस प्रकार इन चार) अवस्थाओं में (वर्तमान) रहने वाले हैं एवं, उत्तरेषाम् = जिनका वर्णन (तृतीय सूत्र में) अविद्या के बाद किया गया है, उन (अस्मितादि चारों क्लेशों) का ; क्षेत्रम् = मूल कारण, अविद्या = अज्ञानता ही है।

व्याख्या— अविद्या ही इन चार (अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश) क्लेशों का मूल क्षेत्र अर्थात् प्रादुर्भूत कर्त्ता है। इन अस्मितादि चारों क्लेशों की ही प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न तथा उदार— चार अवस्थाएँ कही गई हैं। ये चारों अवस्थाएँ अविद्या की नहीं हैं। अविद्या तो सभी की प्रसवभूमि अर्थात् मूल कारण है तथा उसके अभाव में सभी क्लेशों का अभाव हो जाता है। अब क्रमशः अस्मितादि की चारों अवस्थाओं —प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार का अलग-अलग वर्णन किया जा रहा है।

१. प्रसुप्त— प्रसुप्त क्लेश उन्हें कहा गया है, जो चित्त में स्थिर रहकर भी अपना कार्य सम्पादित नहीं कर पाते। जिस प्रकार मनुष्य की बाल्यावस्था में विषय-भोगों की वासनाएँ बीज रूप में होते हुए भी दबी रहती हैं तथा मनुष्य के युवक होते ही सभी वासनाएँ जाग्रत् होकर सक्रिय हो उठती हैं, वैसे ही प्रलय-काल में एवं सुषुप्ति की अवस्था में अस्मिता आदि चारों क्लेशों की प्रसुप्तावस्था रहती है।

२. तनु— जिन क्लेशों को क्रियायोग (कर्मयोग) द्वारा शक्ति से रहित कर दिया जाता है; लेकिन उनकी वासनाएँ बीज रूप में निरन्तर चित्त में विद्यमान रहती हैं। क्लेशों की इस अवस्था को तनु कहते हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति कार्य करने में समर्थ न होकर शान्त रहते हैं। इस प्रकार के उन क्लेशों को तनु अवस्था में लाने हेतु धारणा, ध्यान, ममता का परित्याग एवं वास्तविक ज्ञान आदि की विशेष आवश्यकता होती है।

३. विच्छिन्न— अस्मिता आदि में से किसी भी क्लेश के उदार अथवा शक्तिमान् होने से दूसरा क्लेश दब जाता है। जिस प्रकार से राग की उदार अवस्था के समय में द्वेष दब जाता है, उसी प्रकार से द्वेष की उदार स्थिति के समय में राग दब जाता है। यही स्थिति उस (क्लेश) की विच्छिन्न अवस्था कहलाती है।

४. उदार— जब क्लेश अपने समस्त सहयोगी विषय भोगों को प्राप्त करके अपना कार्य पूर्ण रूपेण सुचारु ढंग से सम्पन्न कर रहे हों , तो उस समय वह 'उदार' अवस्था कहलाती है।

उपर्युक्त पञ्च क्लेशों में से अस्मिता आदि चार क्लेशों के ही प्रसुप्तादि चार अवस्था भेद कहे गये हैं। अविद्या के कोई भी अवस्था भेद नहीं कहे गये हैं; क्योंकि वह अन्य अस्मितादि चारों का मूल कारण है। अविद्या के नाश से सभी का हमेशा के लिए मूल सहित विनाश हो जाता है॥ ४॥

(५६) अनित्याशुचिदु:खानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या॥ ५॥

सूत्रार्थ— अनित्याशुचिदु:खानात्मसु = अनित्य, अपवित्र, दु:ख और अनात्मा में,

व्याख्या— इस सूत्र में अविद्या के स्वरूप का विवेचन किया जा रहा है, अविद्या का ही अपर नाम विपर्ययज्ञान है अर्थात् जिसमें जो धर्म नहीं है, उसको उसमें मान लेना, यही अविद्या है। अविद्या के चार भेद बताये गये हैं। वे इस प्रकार हैं-

१. अनित्य में नित्य का ज्ञान होना— लोक एवं परलोक के सभी भोग तथा भोगों के आयतन (क्षमता वाला) यह मानव शरीर भी नाशवान् है। इस बात को सभी मनुष्य प्रत्यक्ष प्रमाणों के द्वारा जानते हुए भी जिसके प्रभाव से नित्यत्व बुद्धि करके राग-द्वेषादि कर लेता है, यही अनित्य में नित्य की कल्पना करना ही अनुभूति रूप अविद्या है।

२. अपवित्र को पवित्र की संज्ञा देना— ऐसे ही हाड़, मांस, मज्जा, मल-मूत्रादि अपवित्र धातुओं के समूहरूप स्वयं के तथा स्त्री-पुत्रादि के शरीरों को अपवित्र मानते हुए भी जिसके कारण मनुष्य अपने शरीर में पवित्रता का अहंकार करता है तथा स्त्री-पुत्रादि के शरीरों के सहित स्वयं अपने शरीर से भी प्यार करता है, यही अपवित्रता में पवित्रता की अनुभूति रूप अविद्या है।

३. दु:ख में सुख की अनुभूति होने का ज्ञान— इस नश्वर जगत् के समस्त विषयों को, दु:ख देने वाले हैं, ऐसा मानते हुए भी विषय-भोगों को सुख देने वाले समझकर, उनके भोगने में सदा प्रवृत्त हुआ रहता है। यही दु:ख में सुख की अनुभूति होने का ज्ञान ही अविद्या है।

४. अनात्मा में आत्मा की अनुभूति होना— देह, मन सहित दस इन्द्रियाँ एवं चित्त जड़ कहे गये हैं तथा आत्मा से पृथक् हैं; किन्तु मनुष्य इसे जानते हुए भी अविद्या द्वारा इसी को ही अपना स्वरूप मान लेता है। आत्मा इस देह से सर्वथा असङ्ग और चेतन है, ऐसा अनुभव नहीं कर पाता। इसका नाम अनात्मा में आत्मभाव की अनुभूति रूप अविद्या है।

अविद्या के संसर्ग द्वारा चित्त तथा आत्मा का विवेक विपरीत हो जाता है, जिसके द्वारा चित्त में आत्मा का भाव होने लगता है। इसी से अस्मिता-क्लेश प्रादुर्भाव होता है॥ ५॥

(५७) दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥ ६॥

सूत्रार्थ— दृग्दर्शनशक्त्यो: = दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनों का, एकात्मता इव = एकरूप-सा हो जाना, अस्मिता = 'अस्मिता' क्लेश है।

व्याख्या— इस सूत्र में 'अस्मिता' क्लेश के स्वरूप का वर्णन है — 'दृक्-शक्ति' तथा 'दर्शनशक्ति' इन दोनों में एकात्मकता की अनुभूति होना ही अस्मिता-क्लेश है। दृक्-शक्ति अर्थात् देखने वाला-द्रष्टा-पुरुष है और दर्शनशक्ति अर्थात् दिखाने वाली बुद्धि या चित्त है। द्रष्टा-पुरुष और दर्शनशक्ति-बुद्धि या चित्त ये दोनों एक दूसरे से पृथक् एवं विलक्षण हैं। द्रष्टा-पुरुष चेतन और चित्त या बुद्धि जड़ है। ये दोनों एक हो ही नहीं सकते; किन्तु अविद्या के कारण ही दोनों की एकरूपता सी प्रतीत हो रही है। पुरुष चेतन और चित्त जड़ है। पुरुष निष्क्रिय एवं चित्त सक्रिय है। पुरुष त्रिगुण-सत्त्व, रजस्, तमस्, से परे है और चित्त तीनों गुणों से संयुक्त है। पुरुष स्वामी, चित्त सेवक है। पुरुष परिणामरहित तथा चित्त परिणाम युक्त है।

इस तरह से इन दोनों के अलग-अलग होते हुए भी इनमें अविद्या के कारण भेद-ज्ञान की प्रतीति नहीं हो पाती। इस स्थिति को ही अस्मिता-क्लेश कहा गया है। इसे ही हृदय-ग्रंथि भी कहा गया है। योग साधन में तत्परता एवं उल्लासपूर्वक दीर्घकालीन अभ्यास करने पर जब आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब शनै:-शनै: अस्मिता क्लेश शिथिल होते जाते हैं तथा हृदय ग्रन्थि पूरी तरह से समाप्त हो जाती है और साधक

धीरे-धीरे पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। अस्मिता के द्वारा ही देह और इन्द्रियों में आत्मभाव प्रादुर्भूत हो जाता है। इसी से सुख प्रदाता साधन-सामग्रियों में राग भी प्रादुर्भूत हो जाता है॥ ६॥

(५८) सुखानुशयी रागः॥ ७॥

सूत्रार्थ— सुखानुशयी = सुख की प्रतीति अर्थात् सुख भोगने के पश्चात् रहने वाला क्लेश; रागः = राग है।

व्याख्या— 'सुख भोगने के अनन्तर जो चित्त में उसके भोगने की आकांक्षा बनी रहती है, उसे ही 'राग' कहा गया है।' अस्मिता क्लेश के द्वारा देह सहित एकादश इन्द्रियों में आत्मा की प्रतीति (अनुभूति) होने से जिन वस्तुओं एवं विषयों के द्वारा सुख की अनुभूति (प्रतीति) होती है और चेतन जीव को उन भोगों के स्मरण एवं साधनों से उन पदार्थों या निमित्तों से आसक्ति या अनुरक्ति हो जाती है तथा सुख-साधनों की प्राप्ति में आकांक्षा, तृष्णा अथवा लोभ उत्पन्न हो जाता है; साथ ही उसके संस्कार चित्त में स्थित हो जाते हैं, उन्हें ही राग कहा जाता है। व्यास भाष्यानुसार राग का स्वरूप इस प्रकार है — सुख के जानने वाले को उस (सुख) के अनुस्मरण पूर्वक उस (सुख) में या उसके साधन में जो प्राप्त करने की इच्छा रूप तृष्णा या लोभ है, वही राग है॥ ७॥

यहाँ 'द्वेष' नामक क्लेश के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है —

(५९) दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८॥

सूत्रार्थ— दुःखानुशयी = दुःख की प्रतीति के पीछे रहने वाला क्लेश ही, द्वेषः = 'द्वेष' कहलाता है।

व्याख्या— जब कभी व्यक्ति को किसी प्रतिकूल वस्तु या पदार्थ में दुःख की प्रतीति हो जाती है, तब उसके कारणों अथवा साधनों से वैराग्य (घृणा) हो जाता है तथा क्रोध का आविर्भाव हो जाता है। क्रोध के संस्कार चित्त में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। यही द्वेष का स्वरूप कहा गया है। इस घृणात्मक भावना का आगमन दुःखानुभूति के बाद ही होता है। इसीलिए इस द्वेष नामक क्लेश को दुःख के पश्चात् होने वाला माना गया है॥ ८॥

(६०) स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥ ९॥

सूत्रार्थ— स्वरसवाही = जो परम्परानुसार स्वभाववश चला आ रहा है एवं, विदुषः = जो मूढ़ों की भाँति ज्ञानी पुरुषों में; अपि = भी, तथारूढः = आरूढ़ हुआ देखा जाता है, वह मृत्युभय रूपी क्लेश, अभिनिवेशः = अभिनिवेश अर्थात् अत्यधिक गहराई में प्रतिष्ठित हुआ कहा गया है।

व्याख्या— यहाँ 'अभिनिवेश' नामक क्लेश के स्वरूप का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि यह मरण भयरूपी क्लेश समस्त प्राणियों में अनादिकाल से स्वाभाविक रूप से चला आ रहा है, अतः कोई भी प्राणी यह नहीं चाहता कि मेरी मृत्यु हो या मैं इस जगत् में न रहूँ। सभी इस संसार में अपनी उपस्थिति चाहते हैं। एक लघुरूप कीटक भी मृत्यु से भयभीत होकर रक्षार्थ प्रयास करता है। यह मृत्यु रूप भय मूढ़जनों की भाँति विद्वज्जनों को भी सताता है।

अतः इससे यह सिद्ध होता है कि यह प्राणी पूर्वकाल में मृत्यु के भय की अनुभूति प्राप्त कर चुका है। अन्यथा उसे यह भय व्याप्त न होता। इस कारण से प्राणी का पूर्वजन्म भी हुआ होना निश्चित होता है। मरण भयरूप क्लेश के संस्कार चित्त में बीज रूप में स्थित हैं, उन्हें ही अभिनिवेश अर्थात् 'गहराई में प्रविष्ट हुआ' कहा गया है। ये संस्कार कामना युक्त कर्मों के कारण हैं, इनकी वासनाएँ चित्त में स्थित रहकर

आगे होने वाले जन्मों को प्रदान करने वाली कही गई हैं। यहाँ अभिनिवेश का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार से किया गया है — प्राणी निरन्तर चाहता है कि मृत्यु संकट न आये तथा शरीर एवं विषय-भोगों से मेरा संयोग सतत बना रहे, वियोग की प्राप्ति कभी न हो॥ ९॥

पाँच प्रकार के क्लेशों को तनु अर्थात् सूक्ष्म रूप में परिणत कर देने के उपाय को 'क्रियायोग' द्वारा पूर्व के सूत्रों में प्रस्तुत किया जा चुका है। अब यहाँ अगले सूत्र में कर्मयोग द्वारा सूक्ष्मीकृत किये हुए क्लेशों का शमन किस प्रकार से हो, उसे सूत्रकार ने इस प्रकार व्यक्त किया है —

(६१) ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः॥ १०॥

सूत्रार्थ— ते = वे, सूक्ष्माः = सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त हुए (क्लेश), प्रतिप्रसवहेयाः = चित्त को अपने कारण में विलय करने के साधन से समाप्त (नष्ट) करने योग्य हैं।

व्याख्या— पूर्व सूत्रों में वर्णित अस्मितादि पञ्च क्लेश क्रियायोग (कर्मयोग) के द्वारा सूक्ष्म होकर और प्रसंख्यान (सम्यक् ज्ञान) से अग्नि द्वारा परिपूर्ण दग्ध बीज के सदृश वर्णित किए गये हैं। निर्बीज समाधि द्वारा चित्त का अपनी प्रकृति में लय होने से बीज रूप क्लेश भी विलीन होकर नष्ट हो जाते हैं। उन क्लेशों का शमन द्रष्टा एवं दृश्य के संयोग का अभाव होने पर ही होता है, उसके पूर्व क्लेशों का पूर्णरूपेण विनाश नहीं होता। उन अस्मितादि क्लेशों के पूर्णरूपेण शमनार्थ प्रति प्रसव (विलय) के सिवाय और अन्य कोई साधन अभीष्ट नहीं ॥ १०॥

इस सूत्र में यह कहा गया है कि जिन क्लेशों को क्रियायोग के द्वारा नहीं क्षीण किया जा सका है, उन्हें अन्य साधनों —जैसे ध्यान आदि के द्वारा सूक्ष्मातिसूक्ष्म बनाया जा सकता है —

(६२) ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः॥ ११॥

सूत्रार्थ— तद्वृत्तयः = उन क्लेशों की (स्थूल) वृत्तियाँ; ध्यानहेयाः = ध्यान के द्वारा विनष्ट करने योग्य हैं।

व्याख्या— उन क्लेशों की सुख-दुःख प्रदात्री जो स्थूल वृत्तियाँ हैं, उनका यदि पूर्व सूत्रों में विवेचित क्रियायोग के माध्यम से शमन (विनाश) करके उन क्लेशों को सूक्ष्माति-सूक्ष्म न बना दिया गया हो, तो सर्वप्रथम ध्यान योग के द्वारा उन स्थूल वृत्तियों का विनाश करके अति सूक्ष्म विनिर्मित कर लेना चाहिए। जैसे कपड़े को धोने से उसकी स्थूल अर्थात् बाह्य गन्दगी तो आसानी से साफ हो जाती है; किन्तु धागे (सूत) के अन्दर प्रविष्ट हुए मल का विनाश कपड़े के समाप्त होने पर ही होता है अथवा विभिन्न प्रयासों के बाद समाप्त होता है। उसी प्रकार से स्थूल वृत्तियाँ जिनके प्रभाव कम हैं अर्थात् कम दुःख देने वाली हैं तथा सूक्ष्म वृत्तियाँ जो बड़े प्रभाव वाली एवं महान् दुःखदायी होती हैं, इनके संस्कार (विकार) का ध्यान-धारणादि अभ्यास-पूर्वक दृढ़निश्चयी हो, परित्याग करें। ध्यान, धारणादि के दीर्घकालीन अभ्यास से क्लेशों की स्थूलवृत्ति जले हुए बीज के सदृश हो जाती है और निर्बीज समाधि की सिद्धि सुगमतापूर्वक हो जाती है। इस सिद्धि (अवस्था) के प्राप्त होते ही समस्त क्लेशों (विकारों) का अभाव सदैव के लिए स्वतः ही हो जाता है॥ ११॥

अस्मितादि क्लेश ही समस्त प्राणियों के दुःख के हेतु हैं। यहाँ इस सूत्र में इन्हीं का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

(६३) क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः॥ १२॥

सूत्रार्थ— क्लेशमूलः = क्लेशमूलक, कर्माशयः = कर्म संस्कारों का समुदाय, दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः = दृष्ट (वर्तमान) तथा अदृष्ट (भविष्य में होने वाले) दोनों प्रकार के ही जन्मों में भोगा जाने वाला है।

आनन्दपूर्वक जीवन बिताते हैं और कुछ प्राणी गलियों में भूखे मारे-मारे घूमते हैं। इसका भाव यह हुआ कि जो सुख-दुःख अन्यों को दिया है, उसका फल उसे अवश्य ही प्राप्त होता है, उसने चाहे जिस किसी भी योनि में जन्म धारण किया हो॥ १४॥

(६६) परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५

सूत्रार्थ— परिणामतापसंस्कारदुःखैः = परिणाम, ताप और संस्कार दुःख —ये तीन प्रकार के दुःख सभी में स्थित रहने के कारण, च = और, गुणवृत्तिविरोधात् = तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण, विवेकिनः = विवेकशील के लिए, सर्वम् = सब के सब (कर्मफल), दुःखम् एव = दुःख रूप ही हैं।

व्याख्या— इस सूत्र में चार तरह के दुःखों का प्रतिपादन किया गया है, वे इस प्रकार हैं- १. परिणामदुःख २. ताप दुःख, ३. संस्कार दुःख ४. गुणवृत्तिविरोध दुःख।

१. परिणाम दुःख— भोगेन्द्रियों की तृप्ति में शान्ति है, प्रायः मनुष्य उस तृप्ति लाभ को ही सुख मानने लगता है; किन्तु विषय भोगों से इन्द्रियों की तृप्ति कभी भी नहीं होती। जिस प्रकार आग में घृत डालने से अग्नि और अधिक प्रदीप्त होती है, वैसे ही विषयों के भोग से विषय भोगों की आकांक्षा अधिक बनी रहती है। भोग के पश्चात् इन्द्रियों के अशक्त-दुर्बल होने पर तृष्णा और ही परेशान करती है। इसे ही परिणाम दुःख की संज्ञा प्रदान की गई है।

२. तापदुःख— विषय भोगों के द्वारा सुख की प्राप्ति होने पर राग नामक क्लेश उत्पन्न होता है। राग की प्राप्ति में जो अवरोध होता है, उसी में द्वेष की उत्पत्ति होती है। ये राग और द्वेष दोनों ही दुःख देने वाले कहे गये हैं।

३. संस्कार दुःख— मनुष्य राग-द्वेष नामक क्लेशों के द्वारा वशीभूत हो विभिन्न तरह के शुभ एवं अशुभ कर्म करता है। उसके संस्कार उसे जन्म-मरण के चक्र में डालकर दुःख ही दिया करते हैं।

४. गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख— सत्त्व, रजस्, तमस् गुणों के कार्य का नाम गुण-वृत्ति है। सत्त्व का कार्य सुख है, तमस् का कार्य-मोह है और रजोगुण का कार्य दुःख है। इन त्रिगुणों में परस्पर ऐक्य भाव न होने से कभी एक गुण दूसरे अन्य गुणों को दबा लेता है तथा कभी दूसरा उसके गुणों को अपने प्रभाव में ले लेता है, कभी सत्त्वगुण, रजस् और तमस् पर भारी हो जाता है, तब सुखवृत्ति का आभास होने लगता है; किन्तु दुःख और मोह की वृत्तियाँ उस समय भी रहती हैं, लेकिन दबी रहती हैं रजोगुण जब अन्य दूसरे गुणों को दबा देता है, तब दुःख की उत्पत्ति होती है तथा जब तमस् की अधिकता होती है, तब मोह का प्रादुर्भाव होने लगता है। इसे ही गुण-वृत्ति-विरोध-दुःख कहा गया है।

उपर्युक्त समस्त दुःख-सुखादि को एवं विवेक के द्वारा प्राप्त हुए सुख-आनन्द को भी विषय-जन्य मानकर ज्ञानी मनुष्य त्याग कर देते हैं॥ १५॥

(६७) हेयं दुःखमनागतम्॥ १६॥

सूत्रार्थ— अनागतम् = जो आया नहीं, बल्कि आने वाला है वह, दुःखम् = दुःख, हेयम् = हेय (त्यागने योग्य) है।

व्याख्या— इस सूत्र में दुःख की चार संज्ञाएँ कही गई हैं— हेय, हेय-हेतु, हान, हानोपाय।

१. हेय— जो त्यागने योग्य है, उसे हेय नामक दुःख कहते हैं।

२. हेयहेतु— द्रष्टा-दृश्य का संयोग ही दुःख का हेतु है। इसे ही 'हेयहेतु' दुःख के नाम से जाना जाता है।

४. हानोपाय— विवेक ख्याति, कैवल्य साधन को हानोपाय कहा गया है।

वर्तमान जन्म से पूर्व विभिन्न योनियों में अनन्त दु:खों का भोग भोगा जा चुका है। वे समस्त दु:ख समाप्त हो गये हैं। वे हेय अर्थात् त्यागने के योग्य नहीं हो सकते हैं तथा वर्तमान में जो दु:ख भोगा जा रहा है, वह पूर्ण होने पर स्वयमेव समाप्त हो जायेगा। अत: उसके निमित्त भी कोई प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है; परन्तु भविष्य में आने वाले दु:ख जो अभी तक अप्राप्त हैं, ज्ञानी मनुष्य विवेक ज्ञान द्वारा उन्हीं दु:खों को दूर करने का निरन्तर प्रयास करता रहता है। जब वे पूर्णरूपेण समाप्त हो जाते हैं, तो पुन: वे अंकुरित नहीं होते। अत: भविष्य में आने वाले दु:ख स्वयं के श्रेष्ठ पुरुषार्थ से स्वयं ही कट जाते हैं, उनका पुन: अंकुरण नहीं होता। इसलिए भविष्य में होने वाले दु:खों को हेय अर्थात् त्याज्य कहा गया है॥ १६॥

(६८) द्रष्टृदृश्ययो: संयोगो हेयहेतु:॥ १७॥

सूत्रार्थ— द्रष्टृदृश्ययो: = द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (प्रकृति) का, संयोग: = संयोग, हेयहेतु: = हेय का हेतु अर्थात् कारण है।

व्याख्या- उपर्युक्त सूत्र में जो विनष्ट करने योग्य भविष्यत् काल में आने वाले दु:ख कहे गये हैं, उन दु:खों का मूल हेतु (कारण) द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (प्रकृति) का संयोग (अर्थात् चेतन और जड़ की ग्रन्थि) है। यही जड़-चेतन रूपी ग्रन्थि व्यक्ति को संसार के आवागमन के चक्र में घुमाने वाली कही गयी है। जब जड़-चेतन रूपी गाँठ पड़ जाती है, तब शुद्ध आत्मा अपने चित्त-वृत्तियों के अनुरूप ही स्वयं को स्वीकारने लगता है।

जिस प्रकार शीशे के समक्ष जो भी वस्तु या पदार्थ रखा होने पर वैसा ही दृष्टिगोचर होने लगता है, उसी प्रकार आत्मा रूपी शीशे में वृत्तियों का दर्शन होने से आत्मा भी तदनुरूप स्वयं को मानने लगता है अर्थात् साधक व्यक्ति द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (प्रकृति) को विवेक ज्ञान के द्वारा जानकर दु:खों से पूर्णरूपेण निवृत्त हो सकता है। वह दु:खों से मुक्त होकर कैवल्य स्थिति को प्राप्त कर सकता है॥ १७॥

उपर्युक्त सूत्र में द्रष्टा, दृश्य तथा उनके संयोग का उल्लेख किया गया है। इन तीनों में से सर्वप्रथम दृश्य (प्रकृति) के स्वरूप, वृत्ति और प्रयोजन का यहाँ इस सूत्र में वर्णन किया जा रहा है —

(६९) प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्॥ १८॥

सूत्रार्थ— प्रकाशक्रियास्थितिशीलम् = प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति, जिसका स्वभाव है, भूतेन्द्रियात्मकम् = भूत और इन्द्रियाँ जिसका (प्रकट) स्वरूप है, भोगापवर्गार्थम् = (पुरुष के लिए) भोग और मुक्ति का सम्पादन करना ही जिसका उद्देश्य है, ऐसा; दृश्यम् = दृश्य है।

व्याख्या— त्रिगुण- सत्त्व, रजस्, तमस् और इनके कार्य, जो भी कुछ देखने, श्रवण करने तथा जानने-समझने में आते हैं, ये सभी दृश्य (प्रकृति) के अन्तर्गत आते हैं। सत्त्व गुण का प्रमुख धर्म-प्रकाश, रजोगुण का प्रमुख धर्म — क्रियाशीलता और तमोगुण का प्रमुख लक्षण— स्थिति अर्थात् जड़ता है। सांख्य मत के अनुसार इन समस्त गुणों की साम्यावस्था को ही प्रकृति (दृश्य) कहा गया है। अत: सभी अवस्थाओं में अनुगत तीनों गुणों का जो प्रकाश, सक्रियता और स्थिति (जड़ता रूप स्वभाव) है, यही प्रकृति का स्वभाव है। पाँच स्थूलभूत, पाँच तन्मात्राएँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि, अहंकार-ये सभी तेईस (२३) तत्त्व इन्हीं तीनों गुणों के कार्य एवं पृथक्-पृथक् रूप हैं। यह त्रिगुणात्मक प्रकृति, भोग के प्रति जो आसक्त हैं, उन्हें अपना स्वरूप दृष्टिगोचर कराकर भोग प्रदान करती है और मुक्ति के इच्छुक योगियों को द्रष्टा के स्वरूप का दर्शन कराकर मुक्ति प्रदान करती है॥ १८॥

(७०) विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥

सूत्रार्थ— विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि = विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र और अलिङ्ग-ये चार; गुणपर्वाणि = सत्त्वादि गुणों के भेद (परिणाम) हैं।

व्याख्या— सत्त्व, रजस् एवं तमस् गुणों की ये चार — 'विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र तथा अलिङ्ग' अवस्थाएँ (परिणाम) कही गयी हैं। इनका क्रमशः विवेचन इस प्रकार है—

१. विशेष— पाँच स्थूल महाभूत-पृथ्वी, आकाश, जल, अग्नि एवं वायु , इसके साथ ही पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत्र, त्वक्, नेत्र, जिह्वा, नासिका एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ-वाक्, हस्त,पाद,पायु(गुदा),उपस्थ (लिङ्ग) तथा मन-इस प्रकार से ये सभी सोलह घटक सत्त्व, रजस्, तमस्-त्रिगुणों के 'विशेष'(परिणाम) हैं। त्रिगुणों के विशेष धर्मों की अभिव्यक्ति इन्हीं के द्वारा होती है। इस कारण इन्हें 'विशेष' कहा गया है। त्रिगुणों के सुख, दुःख, मोह आदि जो विशेष धर्म हैं, वे शान्त, मूढ़ एवं घोर रूप में इन्हीं में विद्यमान रहते हैं।

२. अविशेष— शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध- इन पाँच तन्मात्राओं को ही सूक्ष्म महाभूत भी कहते हैं। ये तन्मात्राएँ स्थूल पञ्च महाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी) की कारणभूता हैं तथा छठा अहंकार है, जो मन एवं इन्द्रियों का कारण है। इन्हीं का नाम 'अविशेष' है। इनका स्वरूप इन्द्रियगोचर न होने से भी इन्हें 'अविशेष' कहा जाता है।

३. लिङ्ग मात्र— ऊपर वर्णित २२ तत्त्वों का कारणभूत जो महत्तत्त्व है, उसे ही लिङ्ग मात्र के नाम से जाना जाता है। इसकी प्राप्ति केवल सत्ता मात्र से ही होती है। इसलिए इसे 'लिङ्ग मात्र' कहा जाता है। कठोपनिषद् १/३/१० और गीता १३/५ में इसका वर्णन बुद्धि के नाम से किया गया है।

४. अलिङ्ग— मूल प्रकृति अर्थात् सत्त्वादि गुणों की साम्यावस्था को 'अलिङ्ग' कहा गया है। महत्तत्त्व इसका प्रथम परिणाम (कार्य) है। कठ० १/३/११ एवं गीता १३/५ में इसका उल्लेख 'अव्यक्त' के नाम से मिलता है। साम्यावस्था को प्राप्त हुए गुणों के स्वरूप की (अप्रकट होने से) अभिव्यक्ति संभव नहीं, अतः यहाँ प्रकृति को, प्रकट न होने के कारण 'अलिङ्ग' नाम से अभिहित किया गया है॥ १९ ॥

यहाँ द्रष्टा के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है—

(७१) द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥

सूत्रार्थ— दृशिमात्रः = चेतनमात्र (ज्ञानस्वरूप आत्मा), द्रष्टा = द्रष्टा (पुरुष), शुद्धः अपि = यद्यपि स्वभाव से सर्वथा शुद्ध (विकार रहित) है, तो भी; प्रत्ययानुपश्यः = (बुद्धि के सम्बन्ध से) बुद्धि वृत्ति के अनुरूप दृष्टिपात करने वाला है।

व्याख्या— वस्तुतः द्रष्टा (आत्मा) चेतन मात्र, दिव्य ज्ञान स्वरूप, सदैव शुद्ध एवं विकार रहित, कूटस्थ एवं संगरहित है। वास्तव में द्रष्टापुरुष, धर्मविहीन, ज्योति स्वरूप, दीपशिखा के सदृश नित्य, विभु, कल्याणकारी, रस स्वरूप है; परन्तु फिर भी इसका सम्बन्ध प्रकृति (दृश्य) के साथ अनादि सिद्ध अविद्या द्वारा माना जाता है। जब तक उस अविद्या के नाश द्वारा यह प्रकृति से अलग हटकर अपने यथार्थ स्वरूप में अवस्थित नहीं हो जाता, तब तक बुद्धि के साथ ऐक्यभाव को प्राप्त हुआ — सा बुद्धि की वृत्तियों का अवलोकन करता रहता है तथा जब तक उनका अवलोकन करता है, तभी तक इसकी 'द्रष्टा'-पुरुष की संज्ञा है। दृश्य का सम्बन्ध न रहने पर पुनः द्रष्टा नहीं रहता और तब यह केवल चेतन मात्र, ज्ञानस्वरूप शुद्ध एवं विकार रहित ही रह जाता है॥२०॥

(७२) तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥

सूत्रार्थ— दृश्यस्य = (उक्त) दृश्य का, आत्मा = स्वरूप, तदर्थः एव = उस (द्रष्टा) के लिए ही है।

व्याख्या— पूर्व में वर्णित दृश्य का स्वरूप, द्रष्टा (पुरुष) को भोग एवं अपवर्ग (मोक्ष) प्रदान करने के लिए है। इस तरह से पुरुष का उद्देश्य सिद्ध करने हेतु ही दृश्य है। इसी में दृश्य की सार्थकता निहित है। सूत्रकार ने इसी पाद के अठारहवें सूत्र में दृश्य (प्रकृति) के स्वरूप-भेद का उल्लेख करते समय भी उक्त भाव प्रतिपादित किया है॥ २१ ॥

(७३) कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्॥ २२ ॥

सूत्रार्थ— कृतार्थं प्रति = जिसका भोग एवं मोक्ष रूप कार्य सम्पन्न कर दिया, उस द्रष्टा पुरुष के लिए, नष्टम् = विनाश को प्राप्त हुई, अपि = भी (वह प्रकृति), अनष्टम् = नष्ट नहीं होती, तत् अन्यसाधारणत्वात् = क्योंकि दूसरों के लिए भी वह समान है।

व्याख्या— दृश्य (प्रकृति) का उद्देश्य किसी एक जीवात्मा के लिए भोग एवं मोक्ष प्राप्त कराना नहीं है, वह तो समस्त जीवात्माओं के लिए एक जैसी अर्थात् समान है। अतः प्रकृति जिसका कार्य सम्पन्न कर चुकी है, उस मुक्त आत्मा के लिए उसकी जरूरत न पड़ने के कारण यद्यपि वह उसके लिए विनष्ट हो जाती है; किन्तु फिर भी अन्य समस्त जीवात्माओं को भोग एवं मोक्ष लाभ कराना तो शेष ही है। अतः दृश्य का पूर्णरूपेण विनाश कभी नहीं होता, वह प्रकृति हमेशा उपस्थित रहती है। इससे यह प्रकट होता है कि दृश्य (प्रकृति) परिणामी होते हुए भी अनादि एवं नित्य-शाश्वत है। यहाँ जो मुक्त हुए आत्मा के लिए उसका विनाश होना कहा गया है, वह भी अदृश्य होना ही कहा गया है; क्योंकि योग के सिद्धान्त में भी किसी वस्तु (पदार्थ) का पूर्णतया अभाव (विनाश होना) नहीं स्वीकार किया गया है॥ २२ ॥

यहाँ संयोग के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है —

(७४) स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥

सूत्रार्थ— स्वस्वामिशक्त्योः = स्वशक्ति-दृश्य (प्रकृति) और स्वामिशक्ति-द्रष्टा (पुरुष)-इन दोनों के; स्वरूपोपलब्धि हेतुः = स्वरूप की प्राप्ति का जो हेतु है, वह; संयोगः = संयोग है।

व्याख्या— इस सूत्र में सूत्रकार ने चित्त एवं समस्त जड़ दृश्य (प्रकृति) इन दोनों को द्रष्टा-पुरुष का अधिकृत पदार्थ कहा है तथा-पुरुष को इन दोनों का अधिष्ठाता बतलाया है। स्वशक्ति (दृश्य) के स्वरूप की उपलब्धि तथा स्वामिशक्ति-द्रष्टा (पुरुष) के स्वरूप की उपलब्धि, जो मोक्ष रूप हैं, उन दोनों के स्वरूप की प्राप्ति का हेतु ही संयोग है। स्वशक्ति (दृश्य) संप्रज्ञात दृश्य (प्रकृति) संप्रज्ञात समाधि द्वारा स्वामिशक्ति असंप्रज्ञात समाधि द्वारा प्राप्त की जाती है। दृश्य (प्रकृति) और द्रष्टा (पुरुष) का आसक्ति-पूर्वक भोगत्व एवं भोक्तृत्व भाव से जो सम्बन्ध है, उसे ही संयोग कहा गया है। सत्रहवें सूत्र में संयोग को हेय कहा गया है॥ २३ ॥

यहाँ इस सूत्र में उपर्युक्त वर्णित संयोग के कारण का उल्लेख करते हैं —

(७५) तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस दृश्य एवं द्रष्टा के परस्पर संयोग का, हेतुः = हेतु (कारण), अविद्या = अविद्या ही है।

व्याख्या— साधन पाद के पूर्व सूत्र २/४-५ में वर्णित अविद्या ही इस संयोग का मूल कारण है अर्थात् उस दृश्य (प्रकृति) एवं द्रष्टा (पुरुष) के परस्पर संयोग के कारण ही अनित्य-नित्य, अशुद्ध-शुद्ध, अनात्मा-आत्मा रूप में प्रतीत होता है। अज्ञानता के कारण ही आत्मा और चित्त में समरूपता दिखाई पड़ती है तथा चित्त के सुख-दु:ख एवं मोह रूपी वृत्तियों का द्रष्टा (पुरुष) में अध्यारोप (एक वस्तु के गुण-धर्म को भ्रमवश अन्य वस्तु में आरोपित करना) अर्थात् मिथ्याज्ञान हो जाता है। ये वृत्तियाँ ही अज्ञानता के कारण संसार रूपी भवसागर में भ्रमाती रहती हैं अर्थात् जीवात्मा बारम्बार आवागमन के चक्र में भ्रमण करता रहता है। सद्विवेक की प्राप्ति होने पर ही यह अविद्या रूप से दग्ध-बीज भाव प्राप्त कर लेता है। जीवात्मा में अविद्या का संस्कार जब तक स्थित रहता है, तब तक गमनागमन के बन्धन से मुक्त नहीं होता। अविद्या के हटते ही कैवल्य-मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। द्रष्टा पुरुष का जो यह जड़ दृश्य (प्रकृति) के साथ सम्बन्ध है, यह अनादि सिद्ध अविद्या द्वारा ही है, यह वास्तविक नहीं है। यथार्थ ज्ञान के प्रकट होते ही अविद्या रूपी अज्ञानता का समापन हो जाता है तथा उसके पश्चात् कोई उद्देश्य विशेष के न रहने पर वह ज्ञान भी (द्रष्टाभाव) समाप्त हो जाता है और आत्मा कैवल्य को प्राप्त कर लेता है॥ २४॥

(७६) तदभावात्संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम्॥ २५॥

सूत्रार्थ— तदभावात् = उस (अविद्या) के अभाव से, संयोगाभावः = संयोग का अभाव (हो जाता) है यही; हानम् = 'हान' का (पुनर्जन्मादि भविष्य में आने वाले दु:खों का) अत्यन्त अभाव है (तथा); तत् = वही, दृशेः = चेतन आत्मा का; कैवल्यम् = 'कैवल्य' है।

व्याख्या— यहाँ इस सूत्र में अविद्या के कारण रूप संयोग के अभाव से प्रकट होने वाले सर्वथा दु:खनाशक रूप 'हान' का वर्णन करते हुए सूत्रकार कहते हैं कि उस अविद्या के अभाव में संयोग का अभाव हो जाता है। इसे ही 'हान' कहते हैं। 'हान' अर्थात् पुनर्जन्म आदि भविष्य में आने वाले दु:खों का अभाव ही चेतन द्रष्टा-पुरुष का कैवल्य है। वास्तविक पूर्ण शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति होते ही दृश्य (प्रकृति) — द्रष्टा (पुरुष) के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। सत्य (यथार्थ ज्ञान) का साक्षात्कार होते ही अविद्या का शमन हो जाता है।

अविद्या के अभाव में संयोग का अभाव हो जाता है। संयोग का अभाव ही 'हान' है; क्योंकि दृश्य (प्रकृति) का संयोग ही दु:ख स्वरूप है। जब द्रष्टा-पुरुष दृश्य-प्रकृति से पृथक् हो जाता है, तब वह भोग रहित हो जाता है। जब तक दोनों एक साथ संयुक्त रहते हैं, तभी तक भोगों से दु:ख होता रहता है, अलग होते ही वह दु:खों से रहित हो जाता है। 'हान' अर्थात् समूल दु:खनाश को ही शाश्वत ज्ञान (कैवल्य) मोक्ष कहा गया है॥ २५॥

(७७) विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः॥ २६॥

सूत्रार्थ— अविप्लवा = निश्चल और निर्दोष, विवेकख्यातिः = विवेकज्ञान, हानोपायः = (उक्त) 'हान' का उपाय है।

व्याख्या— जिस यथार्थ ज्ञान के द्वारा प्रकृति और उसके कार्य- (बुद्धि, अहंकार, इन्द्रियाँ एवं शरीर) आदि से आत्मा सर्वथा पृथक् और असङ्ग है— यह बोध होता है, उस आत्मा का उक्त पदार्थों के साथ किसी भी प्रकार का सम्बन्ध नहीं है। इस प्रकार पुरुष के स्वरूप का वास्तविक ज्ञान हो जाने से जब दृश्य और द्रष्टा के स्वरूप का पृथक्-पृथक् वास्तविक ज्ञान हो जाता है, तब इसी ज्ञान को मनीषियों ने

विवेकख्याति या 'विवेक ज्ञान' कहा है।

यह श्रेष्ठ ज्ञान वेद-शास्त्र के पठन-पाठन द्वारा, विद्वज्जनों के आप्त वचनों द्वारा तथा अनुमान प्रमाण आदि के द्वारा प्रकट होता है; किन्तु वह परोक्षज्ञान अनादिकाल के अविद्या आदि से उत्पन्न क्लेशों का पूर्णरूपेण मूलसहित नाश नहीं कर सकता, क्योंकि अज्ञान जनित व्युत्थान के संस्कार बीज रूप में स्थित रहते हैं तथा रजस् एवं तमस् वृत्तियों का प्रकटीकरण होता रहता है। इन वृत्तियों का प्राकट्य ही विप्लव अथवा विच्छेद कहा गया है। जिस ज्ञान में विप्लव या विच्छेद हो, वह 'हान' का उपाय नहीं है। अत: विवेक ख्याति की प्राप्ति तब होती है, जब दीर्घकाल तक सतत नियमित क्रिया (कर्म) योग से, अनुष्ठान आदि से, तत्त्वज्ञान से, अविद्यादि विरोधी ज्ञान से, अभ्यास-वैराग्य द्वारा पूर्णरूप से परिपक्व हो जाता है और समाधि द्वारा उसका बोध कर लिया जाता है।

ऐसे उस श्रेष्ठ ज्ञान को अपरोक्षज्ञान कहा गया है। जब अविद्यादि विकारों का इस श्रेष्ठज्ञान के द्वारा नाश हो जाता है तथा चित्त कर्त्तव्य एवं भोग आदि के अभिमान से रहित एवं गुणों की वृत्तियों से रहित हो जाता है, तब सत्त्वगुणी प्रकाश से चित्त में चेतना का आलोक पड़ता है। इसी से चित्त में चैतन्यता की अनुभूति होती है। चित्त से पृथक् इसका बोध होने लगता है। यद्यपि साक्षात्कार चित्त द्वारा ही होता है; किन्तु सत्त्वगुणी वृत्ति के होने तथा दीर्घकाल के अभ्यास द्वारा विवेकज्ञान के पूर्णशुद्ध एवं प्रखर होते ही अविद्यादि ज्ञान दग्ध-बीज के सदृश प्रकट होने में असमर्थ हो जाता है। यही विवेकज्ञान या विवेक ख्याति 'हान' की प्राप्ति का माध्यम है तथा यही कैवल्य प्राप्ति का एक मात्र उपाय है॥ २६॥

(७८) तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा॥ २७॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस (विवेकज्ञान अर्जित) पुरुष की; सप्तधा = सात प्रकार की, प्रान्तभूमिः = अन्तिम स्थिति वाली, प्रज्ञा = बुद्धि (होती है)

व्याख्या— जब श्रेष्ठ योगी का चित्त स्वच्छ एवं अचल विवेकख्याति द्वारा मल-विक्षेपों के आवरण से रहित अर्थात् मल- विक्षेपों का विनाश हो जाता है, उस समय चित्त में दूसरे अन्य भौतिक-सांसारिक ज्ञान का उदय नहीं होता और तब सात प्रकार की श्रेष्ठ उत्कर्ष स्थिति वाली प्रज्ञा का अवतरण होता है। उनमें से प्रथम चार तरह की तो कार्य विमुक्ति की द्योतक अर्थात् चित्त के अधिकार को समाप्त करने वाली तथा प्रयत्न साध्य हैं और अन्त की तीन, चित्तविमुक्ति की द्योतक हैं। अत: इस कारण से वह चित्तविमुक्ति प्रज्ञा कही गई है।

कार्य विमुक्ति प्रज्ञा के चार भेद निम्नवत् हैं—

१. ज्ञेयशून्य अवस्था— जो कुछ भी जानकारी प्राप्त करनी थी, वह सब प्राप्त कर ली गई, अब और कुछ भी जानना शेष नहीं बचा। जितने भी गुणमय दृश्य हैं (योगदर्शन २/१८-१९) वे सभी नित्य नहीं हैं, परिणामी हैं तथा संस्कार-दु:खों एवं गुण-वृत्ति विरोध द्वारा दु:ख देने वाले हैं। अत: ये सभी त्यागने योग्य हैं।

२. हेयशून्य अवस्था— जिस अभाव को दूर करना था, उसे दूर कर दिया अर्थात् द्रष्टा (पुरुष) और दृश्य (प्रकृति) के संयोग का, जो कि हेय का मूल कारण है, उसे दूर कर दिया। अब कुछ भी अभाव दूर करने योग्य शेष नहीं रहा।

३. प्राप्य-प्राप्त अवस्था— आत्म साक्षात्कार आदि जो भी कुछ प्राप्त करना था, वह सब समाधि द्वारा प्राप्त कर लिया है। अब कुछ भी पाना शेष नहीं है।

३. प्राप्य-प्राप्त अवस्था— आत्म साक्षात्कार आदि जो भी कुछ प्राप्त करना था, वह सब समाधि द्वारा प्राप्त कर लिया है। अब कुछ भी पाना शेष नहीं है।

४. चिकीर्षाशून्य अवस्था— जो भी कुछ करना था, वह सब कर लिया अर्थात् 'हान' का मुख्य प्रयोजन निर्मल एवं अचल विवेकख्याति है, उसे योग साधना के द्वारा प्राप्त कर लिया है। अब कुछ भी शेष नहीं रहा।

चित्तविमुक्ति प्रज्ञा के तीन भेद निम्नवत् हैं, देखें—

१. चित्त कृतार्थता— चित्त ने अपना अधिकार 'भोग एवं मोक्ष' देना पूर्ण कर दिया है, अब उसका अन्य कोई उद्देश्य बाकी नहीं रहा।

२. गुणलीनता— जैसे पर्वत के शिखर से प्रस्तरखण्ड नीचे गिरने पर छोटे-छोटे खण्डों में बिखर जाते हैं, वैसे ही चित्त अपने कारण रूप गुणों में विलीन हो गया है; क्योंकि अब उसका कोई भी कर्म शेष नहीं बचा।

३. आत्मस्थिति— जब पुरुष सर्वथा गुणों से परे होकर अपने स्वरूप में अविचल भाव से अवस्थित हो जाता है, तब उस स्थिति को ही आत्म स्थिति कहा गया है।

इस प्रकार से इन सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा की अनुभूति करने वाला योगी-साधक कुशल जीवन्मुक्त कहलाता है और चित्त जब अपने कारण-रूप में विलीन हो जाता है, तब वह विदेह-मुक्त कहलाता है॥ २७॥

इस सूत्र में विवेकख्याति की प्राप्ति के उपाय का विवेचन किया गया है —

(७८) योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ २८॥

सूत्रार्थ— योगाङ्गानुष्ठानात् = योग के अंग का अनुष्ठान करने से, अशुद्धिक्षये = अशुद्धि का क्षय (नाश) होने पर, ज्ञानदीप्तिः = ज्ञान का प्रकाश, आविवेकख्यातेः = विवेकख्याति पर्यन्त हो जाता है।

व्याख्या— अग्रिम सूत्र क्र० २९ में कहे जाने वाले योगाङ्गों का सम्यक् रूप से अनुष्ठान करने अर्थात् अभ्यास द्वारा आचरण में लाने से चित्त के क्लेश (मल) रूपी विकार नष्ट हो जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश प्रकट हो जाता है अर्थात् चित्त निर्मल हो जाता है। उस समय योगी-साधक के ज्ञान का आलोक विवेकख्याति तक पूर्णरूप से प्रसृत हो जाता है अर्थात् वह विवेकख्याति (ज्ञान का आलोक) उसे (साधक को) आत्मा का स्वरूप, बुद्धि, अहंकार एवं इन्द्रियों से सदैव पृथक् प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होता है।

योगाङ्गों का अनुष्ठान, अशुद्धि-वियोग एवं विवेक ख्याति प्राप्ति के हेतु की ९ अवस्थाएँ कही गई हैं, जिनकी विवेचना इस प्रकार है —

१. उत्पत्ति कारण— जो उत्पत्ति के कारण हों, जैसे वृक्ष का बीज और घड़े की मिट्टी उत्पत्ति का कारण है।

२. स्थिति कारण— आहार शरीर की स्थिति का एवं पुरुषार्थ ही मन की स्थिति का कारण कहलाता है।

३. अभिव्यक्ति कारण — प्रकाश ही रूप की अभिव्यक्ति का कारण होता है।

४. विकार- अग्नि द्वारा जो पदार्थ (दाल, चावल आदि) पकाये जाते हैं, वे सभी गलकर दूसरे रूप में परिणत हो जाते हैं। अग्नि ही उसका विकार-कारण होता है। इसी प्रकार मन का दूसरे विषय में

६. प्राप्ति कारण— जिस तरह योग के अंगों का अनुष्ठान ही विवेकज्ञान की प्राप्ति का हेतु है और यही अशुद्धि के वियोग का भी हेतु है। यही धर्म सुख प्राप्ति का भी कारण है।

७. वियोग— कुठार (कुल्हाड़ी) वृक्ष के वियोग का हेतु होता है। ऐसे ही योग के अङ्गों का अनुष्ठान ही अशुद्धि के वियोग का मूल हेतु (कारण) कहा गया है।

८. अन्यत्व-कारण— स्वर्णकार द्वारा स्वर्ण के वस्तु का रूप परिवर्तित कर देने की स्थिति ही अन्यत्व-कारण कहलाता है।

९. धृति-कारण— जिस प्रकार से शरीर-इन्द्रियों (प्राणों) के धारण का कारण कहलाता है और इन्द्रियाँ शरीर की तथा महाभूत शरीर के मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों के कारण हैं, अत: ये सभी एक-दूसरे के पूरक हैं। योगाङ्गों का अनुष्ठान-संकल्प अशुद्धि के विनाश का कारण एवं विवेक की प्राप्ति का कारण ही धृति-कारण कहा गया है।

योग के यम-नियमादि आठ अंगों का विवेचनात्मक वर्णन इस सूत्र में किया गया है, देखें —

(८०) यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥ २९॥

सूत्रार्थ— यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधय: = यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, अष्टौ = ये आठ, अङ्गानि = (योग के) अङ्ग हैं।

व्याख्या— विवेक-ख्याति की प्राप्ति हेतु अष्टाङ्ग योग (क्रियायोग) को सर्वोत्तम साधन कहा गया है। योगिराज पतञ्जलि मुनि ने 'समाधि पाद' में दूसरे अन्य उपाय भी विवेचित किये हैं, उदाहरणार्थ- अभ्यास, वैराग्य एवं पुरुषार्थ (श्रद्धा-वीर्य) आदि। ये सभी अष्टाङ्ग योग (क्रियायोग) के अन्तर्गत ही कहे गये हैं अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि की प्राप्ति अभ्यास एवं वैराग्यादि के अभाव में नहीं होती। पुरुषार्थ के अभाव में कोई भी कार्य विशेष सम्पन्न नहीं होता। तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान आदि सब क्रियायोग (कर्मयोग) के नियम के अन्तर्गत आते हैं।

उपर्युक्त वर्णित सकाम कर्म, जिनकी जन्मदात्री अविद्या है। अविद्या से अस्मिता, अस्मिता से राग, राग से द्वेष और द्वेष से अभिनिवेश, अभिनिवेश से सकाम कर्म, उनकी वासनाओं से जन्म, आयु, भोग एवं उनमें सकाम कर्मों के पाप-पुण्य के आधार पर सुख-दु:ख आदि प्राप्त होते हैं। उन समस्त विकारों की निवृत्ति हेतु अष्टाङ्गयोग ही प्रमुख साधन कहा गया है। अष्टाङ्गों का क्रमानुसार यहाँ विवेचन प्रस्तुत है।

१. यम— सर्वप्रथम व्यावहारिक जीवन को 'यम' के द्वारा सत्त्वगुण युक्त पवित्र बनाना पड़ता है, क्योंकि जिससे सकाम कर्म जन्म, मृत्यु, भोगों की प्राप्ति होती है, वे सब इससे समाप्त (नष्ट) हो जाते हैं। बाह्य व्यवहार द्वारा राग, द्वेष, अभिनिवेश आदि क्लेश 'तनु' हो जाते हैं। तनु अर्थात् जिन क्लेशों को क्रियायोग द्वारा शक्तिहीन कर दिया जाता है; लेकिन इनकी वासनाएँ बीजरूप से चित्त में विद्यमान रहती हैं, वे 'तनु' नामक क्लेश कहलाते हैं।

२. नियम— नियम द्वारा शरीर, इन्द्रियाँ अन्त:करण के रजस् एवं तमस् मल-विक्षेप आदि विनष्ट होकर अर्थात् समाप्त होकर सत्त्वगुण-सम्पन्न पूर्ण परिष्कृत हो जाते हैं।

३. आसन— आसन के अभ्यास द्वारा शरीर की रजोगुणी रूपी चंचलता, अस्थिरता, तमरूपी आलस्य आदि विकार समाप्त होकर सात्त्विक दिव्यता प्रादुर्भूत होती है।

४. प्राणायाम — प्राणायाम के द्वारा मन का निरोध शीघ्रातिशीघ्र होता है और शरीर नीरोग

३. आसन— आसन के अभ्यास द्वारा शरीर की रजोगुणी रूपी चंचलता, अस्थिरता, तमरूपी आलस्य आदि विकार समाप्त होकर सात्त्विक दिव्यता प्रादुर्भूत होती है।

४. प्राणायाम — प्राणायाम के द्वारा मन का निरोध शीघ्रातिशीघ्र होता है और शरीर नीरोग होकर लम्बी आयु को प्राप्त कर लेता है।

५. प्रत्याहार— प्रत्याहार द्वारा एकादश इन्द्रियों की आलस्य-प्रमाद रूपी अज्ञानता तिरोहित हो जाती है।

६. धारणा— धारणा द्वारा चित्त में स्थित मूढ़ता एवं क्षिप्त रूपी अज्ञानता को समाप्त कर सात्त्विक रूप-वृत्ति मात्र के किसी एक विषय में केन्द्रित कर दिव्यता की प्राप्ति की जाती है।

७. ध्यान— ध्यान द्वारा चित्त में स्थित रजस्, तमस् रूप गुणों के वेगों-विकारों का शमन सम्यक् रूप से हो जाता है।

८. समाधि— समाधि की स्थिति में ध्येय से रजोगुण को और ध्यान से तमोगुण के अवशेष को समाप्त कर दिया जाता है। इस प्रकार पवित्र-सात्त्विक चित्त इन भावों से रहित होकर एक मात्र ध्येय के आकार सदृश हो जाता है। इन अष्टाङ्गों में पाँच बाह्य के और तीन अन्त: के साधन कहे गये हैं॥ २९॥

यहाँ इस सूत्र में यम के भेदों का वर्णन किया गया है —

(८१) अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ ३०॥

सूत्रार्थ— अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः = अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच, यमाः = यम हैं।

व्याख्या— यम के अहिंसा आदि पाँचों भेदों का क्रमशः विस्तृत विवेचन इस प्रकार किया जा रहा है-

१. अहिंसा— मन, वाणी एवं शरीर द्वारा किसी प्राणी को कभी किसी भी तरह का दु:ख न देना ही अहिंसा कहलाता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि के वशीभूत हो मानसिक यन्त्रणा देना या दिलवाना अथवा सलाह देना, संकेत करना तथा दूसरों के दोषों को देखना आदि समस्त अवगुण हिंसा के अन्तर्गत आते हैं। इनका त्याग ही अहिंसा है।

२. सत्य— नेत्रेन्द्रियादि एवं मन के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से देखा हुआ, श्रवण किया हुआ तथा अनुमान द्वारा अनुभव किया हुआ, जैसा घटित हो, वैसा का वैसा ही भाव प्रकट करने के लिए प्रिय एवं हितकर वचन का नाम 'सत्य' है। ऐसे ही कपट एवं छल विहीन आचरण का नाम भी सत्याचरण जानना चाहिए।

३. अस्तेय— (चोरी न करना) दूसरे के धन का अपहरण कर (चुरा) लेना, छल से अथवा अन्य किसी उपक्रम द्वारा अनीतिपूर्वक प्राप्त कर अपना बना लेना चोरी (स्तेय) कहलाता है। कम तोलना, निश्चित कीमत से अधिक लेना, मिलावट करना, टैक्स की चोरी एवं घूसखोरी भी (स्तेय) के अन्तर्गत आती है। इन सभी तरह की चोरियों के अभाव का नाम ही अस्तेय है।

४. ब्रह्मचर्य— वाणी, मन एवं शरीर द्वारा होने वाले सभी तरह के मैथुनों का समस्त अवस्थाओं में सदैव परित्याग कर सभी प्रकार से वीर्य की रक्षा करना ही 'ब्रह्मचर्य' कहलाता है। ब्रह्मचारी को कामोद्दीपन करने वाले पदार्थों का सेवन नहीं करना चाहिए। वह न ऐसे भड़कीले दृश्यों को देखे, न ऐसी

बातों को सुने, न अश्लील साहित्य पढ़े तथा न इस तरह के विचारों को ही अपने मन में लाए। स्त्रियों एवं उनसे आसक्ति रखने वाले मनुष्यों से भी ब्रह्मचारी को अपनी दूरी सतत बनाये रखनी चाहिए। ऐसे लोगों का साथ ब्रह्मचर्य पालन में बाधक है।

५. अपरिग्रह— अपने स्वार्थ हेतु मोहवश आवश्यकता से अधिक धन, सम्पत्ति एवं भोग-प्रधान सामग्री को एकत्र करना परिग्रह कहलाता है। साधक संग्रहवृत्ति का नहीं होना चाहिए। सतत अपरिग्रही जीवन जीना चाहिए। आत्मिक प्रगति के लिए अपरिग्रही वृत्ति होना परमावश्यक है। इस प्रकार से यम के पाँच भेद (लक्षण) पूर्ण हुए। यही यम कहलाते हैं॥ ३०॥

(८२) जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥ ३१॥

सूत्रार्थ— जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः = (उपर्युक्त यम) जाति, देश, काल और निमित्त की सीमा से रहित, सार्वभौमाः = सार्वभौम होने पर, महाव्रतम् = महाव्रत हो जाते हैं।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में कहे हुए अहिंसादि पाँचों यमों का अनुष्ठान जब सार्वभौमिक अर्थात् सब के साथ , सब जगह और सब समय समभाव से किया जाता है, तब ये सब महाव्रत हो जाते हैं। जैसे— किसी व्यक्ति ने संकल्प किया कि मछली के अतिरिक्त अन्य किसी भी जीव की हिंसा नहीं करूँगा, तो यह जाति-अवच्छिन्न अहिंसा हुई। ऐसे ही कोई यह व्रत ले कि मैं अमुक-अमुक तीर्थों में हिंसा नहीं करूँगा, तब यह देश-अवच्छिन्न अहिंसा हुई। यदि कोई यह नियम पालन करे कि मैं अमावस्या-पूर्णिमा को हिंसा नहीं करूँगा, तब इसे कालावच्छिन्न अहिंसा कहेंगे और यदि कोई यह संकल्प करे कि मैं विवाह के समय के अतिरिक्त अन्य किसी समय किसी भी कारण से हिंसा न करूँगा, तब यह समयावच्छिन्न अहिंसा कहलाती है। ऐसे ही सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के भी भेद जान लेने चाहिए।

ऐसे 'यम' व्रत तो कहलाते हैं; किन्तु ये सार्वभौमिक न होने से महाव्रत नहीं हो सकते। उपर्युक्त भेदों का प्रतिबन्ध न लगाकर जब समस्त भूतों-प्राणिजनों के साथ सभी देशों में सदैव इनका पालन किया जाए, किसी भी कारण से इनमें शिथिलता के आगमन का अवसर न दिया जाये, तभी ये सब सार्वभौमिक होने से 'महाव्रत' कहे जाते हैं॥ ३१॥

(८३) शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२॥

सूत्रार्थ— शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि = शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर-प्रणिधान (शरणागति)- (ये पाँच), नियमाः = नियम हैं।

व्याख्या— १. शौच- जल, मिट्टी आदि के द्वारा वस्त्र, मकान एवं शरीरादि की गंदगी को निष्कासित करना बाहर की पवित्रता है। इसके अतिरिक्त अपने वर्ण, आश्रम तथा पात्रता के अनुसार न्यायपूर्वक धन को और शरीर निर्वाह के लिए आवश्यक खाद्य आदि पवित्र पदार्थों वस्तुओं को प्राप्त करके उनके द्वारा शास्त्र के अनुकूल पवित्र भोजन-प्रसाद आदि ग्रहण करना एवं सभी के साथ तदनुकूल व्यवहार करना आदि— यह सभी क्रियायें बाह्य शुद्धि के अन्तर्गत आती हैं। मानसिक-अन्तःकरण में स्थित रागद्वेषादि मलों का निष्कासन जप, तप एवं पवित्र विचारों के द्वारा तथा मैत्री आदि की भावना-द्वारा सम्पन्न करते हैं। यही अन्तःशोधन की प्रक्रिया कहलाती है। इसी को शौच (पवित्रता) कहते हैं।

२. संतोष— कर्त्तव्य-कर्म का निर्वाह करते हुए उसका जो कुछ भी परिणाम हो और प्रारब्धानुसार

स्वयं अपने आप जो कुछ भी मिल जाये तथा जिस अवस्था और परिस्थिति में रहने का संयोग प्राप्त हो जाये, उसी में संतुष्ट रहना। किसी भी तरह की कामना या तृष्णा-आकांक्षा न करना ही 'संतोष' कहलाता है।

३. तप— जिस तरह स्वर्ण आदि धातुएँ अग्नि में तप्त करने पर पूर्ण परिष्कृत (शुद्ध) हो जाती हैं, उसी तरह से शरीर, प्राण, मन सहित दसों इन्द्रियों को अनुकूल रीति से अभ्यासपूर्वक वश में करके सर्दी, गर्मी, भूख-प्यास, दुःख-सुख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वात्मक अवस्था में विक्षेप-रहित रहना एवं कृच्छ्र-चान्द्रायण व्रत आदि धर्माचरण ही 'तप' कहलाते हैं।

४. स्वाध्याय— वेद, उपनिषद्, षड्दर्शन तथा आध्यात्मिक प्रगति हेतु आत्मज्ञान प्रदान करने वाले शास्त्रों का अध्ययन, मनन, चिन्तन करना, शास्त्रों में वर्णित निन्दित कर्मों का परित्याग, ॐकार या गायत्री महामंत्र का जप आदि करना स्वाध्याय के अन्तर्गत आता है। इसके साथ स्वयं अपने आपका अर्थात् स्व का अध्ययन करना भी 'स्वाध्याय' कहलाता है।

५. ईश्वरप्रणिधान (शरणागति) — मन, वचन, कर्म से ईश्वर की भक्ति, नाम, रूप, लीला, गुण, प्रभाव आदि का श्रवण, कीर्तन, मनन, चिन्तन आदि के द्वारा श्रेष्ठ वृत्तियों-विचारों को ईश्वर के प्रति समर्पित कर देना ही 'ईश्वरप्रणिधान' कहलाता है। शरीर, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण, मन, प्राण को तथा उनके द्वारा होने वाले कर्मों एवं उनके परिणाम को बाह्य करण और अन्तःकरण को पूर्णरूपेण ईश्वर को समर्पण करना ही 'ईश्वर शरणागति' कहलाता है॥ ३२॥

(८४) वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्॥ ३३॥

सूत्रार्थ— वितर्कबाधने = जब वितर्क (यम एवं नियमों के विरोधी हिंसा आदि के भाव) यम-नियम के पालन में अवरोध पैदा करें तब; प्रतिपक्षभावनम् = उनके प्रतिपक्षी विचारों का प्रत्येकक्षण चिन्तन करते रहना चाहिए।

व्याख्या— योगी को यम-नियमादि श्रेष्ठ कर्म करते समय विभिन्न तरह के विघ्न उपस्थित होते हैं। कुसंगति, अनीति देखने या पीड़ित करने पर या किसी अन्य कारण से बदला लेने की इच्छा-भावना से अशुभ भाव प्रकट होते हैं। मैं शत्रु का विनाश करूँगा, असत्य वाचन करूँगा, अमुक का धन बलपूर्वक ग्रहण कर लूँगा, अमुक की सुन्दर स्त्री का हरण करूँगा आदि, आदि। इस तरह के पदच्युत करने वाले भाव, जैसे-हिंसा, झूठ, स्तेय, ब्रह्मचर्य का पालन न करना , परिग्रह, अशौच, असन्तोष, तप का अभाव, स्वाध्याय का त्याग, ईश्वर से विमुख होना आदि वितर्क होते हैं तथा यम-नियमादि का परित्याग करने की स्थिति प्रकट करके योग साधना में अवरोध उत्पन्न करते हैं, तब उन वितर्क विरोधी श्रेष्ठ-विचारों का चिन्तन-मनन करके वितर्क रूप अधर्मों को मन से निवृत्त कर देना चाहिए। अभिप्राय यह है कि हिंसा का भाव जाग्रत् होने पर दया के भाव का चिन्तन करना चाहिए। उस समय उन विरोधी विचारों का विनाश करने के लिए उन विचारों में दोष दर्शन रूपी प्रतिपक्ष की निरन्तर भावना करते रहना चाहिए ॥ ३३॥

(८५) वितर्का हिंसादयः कृतकारिताऽनुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका-मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्॥ ३४॥

सूत्रार्थ— हिंसादयः = (यम एवं नियमों के विरोधी) हिंसा आदि भाव, वितर्काः = वितर्क कहलाते हैं, (वे तीन प्रकार के कहे गये हैं-), कृतकारिताऽनुमोदिताः = १. स्वयं किए हुए, २. दूसरों से करवाये हुए और ३. अनुमोदन किए हुए, लोभक्रोधमोहपूर्वकाः = इनके कारण लोभ, क्रोध और मोह हैं;

मृदुमध्याधिमात्रा: = इनमें भी कोई छोटा, कोई मध्यम तथा कोई बहुत बड़ा होता है; दु:खाज्ञानानन्तफला: = ये दु:ख और अज्ञानरूप अनन्त फल प्रदान करने वाले हैं, इति = इस प्रकार (चिन्तन करना ही), प्रतिपक्षभावनम् = प्रतिपक्ष की भावना है।

व्याख्या— हिंसा तीन प्रकार की कही गई है, जिनमें १. स्वयं अपने द्वारा की गई, २. कारिता अर्थात् दूसरों के द्वारा कराई गई और ३. अनुमोदिता अर्थात् अनुमोदन (समर्थन) से की गई हिंसा। इस प्रकार तीन तरह से होने वाले हिंसा, झूठ, चोरी एवं व्यभिचार आदि दुर्गुण, जो कि यम-नियमों के वैरी हैं, इन्हीं का नाम 'वितर्क' है।

ये हिंसा रूपी दोष कभी लोभ के द्वारा किये गये, कभी क्रोध के द्वारा किये गये होते हैं। जैसे- अमुक ने हमारा अपकार किया है, अत: इसे मैं भी मारूँगा। कभी मोह के कारण की गई हिंसा, जैसे देवी पर बकरे की बलि देने से स्वर्ग की प्राप्ति होगी। ये दोष कभी मृदु (लघु-छोटे) रूप में, कभी मध्यम और कभी अधिकतम विकराल रूप में योगी के समक्ष प्रकट होकर उसे पीड़ित करते हैं। उस क्षण योगी को सावधान रहते हुए यह सोचना चाहिए कि ये हिंसा आदि विकार (दोष) अत्यन्त हानिकारक एवं नरक की ओर गमन कराने वाले हैं। इनका फल दीर्घावधि तक पुन:-पुन: प्राप्त होने वाले दु:ख के रूप में भोगना पड़ता है और अज्ञानता के वशीभूत हो कूकर-शूकर योनियों में भ्रमण करना पड़ता है।

इसीलिए इन दोषों (हिंसारूपी विकारों) से सतत दूर रहते हुए दृढ़-निश्चयी होकर यम-नियमों का पालन करते रहना चाहिए। इन श्रेष्ठ विचारों को नियमित अभ्यासपूर्वक निरन्तर भावना करते रहना ही 'प्रतिपक्ष की भावना' कहलाती है॥ ३४॥

(८६) अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्याग:॥ ३५॥

सूत्रार्थ— अहिंसाप्रतिष्ठायाम् = अहिंसा की दृढ़ स्थिति (प्रतिष्ठित) हो जाने पर, तत्सन्निधौ = उस (योगी) के समीप में, वैरत्याग: = समस्त हिंसक प्राणी वैर भाव का परित्याग कर देते हैं।

व्याख्या— जब योगी-साधक की अहिंसा के पालन में दृढ़ स्थिति हो जाती है अर्थात् अहिंसा भाव पूर्णरूपेण दृढ़ स्थित (प्रतिष्ठित) हो जाता है, तब उसके समीप में रहने वाले हिंसक जीव भी वैर भाव से रहित अर्थात् अहिंसक हो जाते हैं। यदि कोई यह शंका करे कि हिंसक प्राणियों में वैरभाव (हिंसा) स्वाभाविक है, उनमें यह भाव दूर नहीं हो सकता? तो यह यहाँ पर असंगत-सा प्रतीत होता है; क्योंकि यदि स्वाभाविक गुण होता, तो हिंसक वृत्ति के प्राणी अपनी पत्नी-बच्चों आदि से राग-प्रेम क्यों करते? अत: ऐसी स्थिति में वैरभाव स्वाभाविक नहीं लगता।

इतिहास में जहाँ ऋषि-मुनियों के आश्रमों की शोभा का वर्णन मिलता है, वहाँ वनचर हिंसक जीवों में स्वाभाविक वैर भाव (हिंसा) का अभाव दृष्टिगोचर होता है, यह उन ऋषि-मुनियों के अहिंसा भाव की दृढ़ स्थिरता का ही प्रभाव होता है। उदाहरणार्थ-कण्व मुनि के आश्रम में शकुन्तला पुत्र-भरत शेर के बच्चों के साथ खेलते हुए उनके दाँतों की गणना किया करता था। ऐसे अनेकों प्रमाण पुरातन ग्रन्थों में मिलते हैं॥ ३५॥

(८७) सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ ३६॥

सूत्रार्थ— सत्यप्रतिष्ठायाम् = सत्य की दृढ़स्थिति हो जाने पर अर्थात् सत्य की पूर्णतया प्रतिष्ठा हो जाने पर (योगी-साधक में); क्रियाफलाश्रयत्वम् = क्रियाफल के आश्रय का भाव आ जाता है।

व्याख्या— जब योगी-साधक में सत्य की पूर्णरूपेण प्रतिष्ठा हो जाती है अर्थात् उसमें सत्य की दृढ़ स्थिति हो जाती है, तब उसमें किसी भी तरह का अभाव नहीं रह जाता है। तत्क्षण वह योगी-साधक योग कर्त्तव्य पालन रूप क्रियाओं के फल का आश्रय बन जाता है। उसकी वाणी द्वारा जो भी शाप, वरदान आशीर्वाद आदि नि:सृत होते हैं, वे सभी सत्य होंगे तथा यज्ञादि श्रेष्ठ कर्मों से जो फल प्राप्त होता है, वह फल उसकी वाणी द्वारा ही प्राप्त हो जाता है। भूत, भविष्यत् एवं वर्तमान-तीनों कालों में सत्यनिष्ठ योगी द्वारा ऐसी भावना धारण करने से कि असत्य वचन का प्रतिपादन नहीं करूँगा, तब उसका अन्तस् इतना निर्मल हो जाता है कि उसकी वाणी से वही बात नि:सृत होती है, जो क्रियारूप में परिणत हो जाती है॥ ३६ ॥

(८८) अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ ३७॥

सूत्रार्थ— अस्तेयप्रतिष्ठायाम् = चोरी न करने की दृढ़ स्थिति हो जाने पर (उस योगी के समक्ष), सर्वरत्नोपस्थानम् = सभी तरह के रत्न प्रकट हो जाते हैं।

व्याख्या— जब योगी-साधक में अस्तेय अर्थात् चोरी न करने की पूर्णतया दृढ़स्थिति हो जाती है, तब पृथ्वी में कहीं पर भी गुप्त स्थल में स्थित सभी तरह के वांछित रत्न, वस्तु-पदार्थ आदि उसके लिए प्रकट हो जाते हैं। किसी भी वस्तु-पदार्थ के प्रति राग (आसक्ति) का होना भी स्तेय (चोरी) कहलाता है। अत: इन आसक्तियों से उसे सतत दूर रहना चाहिए॥ ३७॥

(८९) ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ ३८॥

सूत्रार्थ— ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम् = ब्रह्मचर्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर, वीर्यलाभ: = सामर्थ्य का लाभ होता है।

व्याख्या— जब योगी में ब्रह्मचर्य पालन की पूरी तरह से परिपक्व स्थिति हो जाती है, तब उस योगी के मन, बुद्धि-चित्त, इन्द्रिय एवं देह में अतुलनीय शक्ति का आविर्भाव हो जाता है। सामान्य जन उसकी बराबरी किसी भी कार्य में नहीं कर पाते। वह अपनी शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक शक्तियों को ब्रह्मचर्यपालन से अत्यधिक प्रोन्नत कर लेता है। वह ब्रह्मचर्य बल द्वारा ही अपने योग्य अनुकूल मार्ग को बिना किसी अवरोध के प्राप्त कर लेता है। ब्रह्मचर्य का पूर्ण शुद्ध रूप में वही योगी पालन कर सकता है, जो वीर्य (पुरुषार्थ) में विकार उत्पन्न करने वाले खाद्य पदार्थों का उपयोग न करे तथा अश्लील दृश्यों व बातों को न देखे और न ही श्रवण करे। सदा स्त्रियों से दूर रहे। ऐसे अनेकों तरह के काम-क्रीड़ा सम्बन्धी विवेचन इसी योग दर्शन में अन्य स्थलों में किये गए हैं, योगी को यथा समय उन सभी का परित्याग कर देना चाहिए॥ ३८॥

(९०) अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः॥ ३९॥

सूत्रार्थ— अपरिग्रहस्थैर्ये = अपरिग्रह की स्थिति हो जाने पर, जन्मकथन्तासम्बोध: = पूर्वजन्म कैसे हुए थे, इस बात का सम्यक् रूप से ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या— जब योगी-साधक में अपरिग्रह का पूरी तरह से दृढ़ (स्थिर भाव) हो जाता है, तब वह अपने इस जन्म की तथा पिछले जन्मों की सभी बातें (घटनाक्रम) स्वयमेव जान लेता है। योगी के लिए परिग्रह, अविद्या (चित्त में मोह, अहंकार) आदि महान् क्लेश (विकार) कहे गये हैं। इनका सम्यक् रूप से परित्याग करना ही अपरिग्रह कहलाता है। इनके क्लेशों के त्याग से उसका चित्त पदार्थ-ज्ञान का जानने वाला हो जाता है तथा उसे अपने पिछले जन्मों की सभी बातों का वास्तविक ज्ञान हो जाता है। मैं पूर्व

जन्मों में कौन था, मैंने क्या-क्या कार्य किये, कैसे रहा और किस कर्म के अनुसार मुझे यह मानव योनि मिली? ये सभी बातें स्मृति पटल पर आ जाती हैं, इसी ज्ञान से वैराग्य की प्राप्ति होती है तथा संसार के आवागमन से मुक्ति प्राप्ति हेतु योग की साधना में प्रवृत्ति होती है॥ ३९॥

सूत्र क्रमांक ३५ से ३९ तक में यमों-सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह की सिद्धि का फल विवेचित किया गया है। इनका कामना रहित होकर अभ्यास-साधना करने से कैवल्य की ओर बढ़ने की सहज ही प्रवृत्ति हो जाती है। अब यहाँ सूत्र क्र० ४० से ४५ तक नियम- (शौच, संतोष, स्वाध्याय, तप एवं ईश्वर प्रणिधान) का विवेचन किया जा रहा है। इस सूत्र में सर्वप्रथम शौच के अन्तर्गत बाह्य शौच के फल को कहा जा रहा है —

(९१) शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ ४०॥

सूत्रार्थ— शौचात् = शौच का (पवित्रता का) पालन करने से, स्वाङ्गजुगुप्सा = अपने अंगों में वैराग्य (और), परैः असंसर्गः = अन्यों-दूसरों से संसर्ग न करने की इच्छा (प्रकट होती है)।

व्याख्या— बाह्य शुद्धि (पवित्रता) का पालन करने से योगी की अपने निज के शरीर में अशुद्ध बुद्धि होने से वैराग्य हो जाता है अर्थात् उस शरीर के प्रति किसी भी तरह की आसक्ति नहीं रह जाती। शरीर से विरक्ति हो जाती है। इसी कारण दूसरे-अन्य सांसारिक मनुष्यों के साथ संसर्ग करने की इच्छा भी नहीं होती, वह दूसरे लोगों से अपना शरीर स्पर्श कराने में संकोच व घृणा करने लगता है। इससे बचने के लिए वह प्रायः अकेले-एकान्त स्थलों में निवास करने लगता है अर्थात् एकान्त प्रिय हो जाता है। यही बाह्य शुद्धि (पवित्रता) का फल है॥ ४०॥

इस सूत्र में अन्तस् (अन्तरंग) शौच के फल का वर्णन किया गया है —

(९२) सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ४१॥

सूत्रार्थ— च = और (इसके अतिरिक्त), सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि = अन्तःकरण की शुद्धि से, मन में आह्लाद, चित्त में एकाग्रता, इन्द्रियों का वश में होना एवं आत्मसाक्षात्कार की योग्यता की प्राप्ति होती है।

व्याख्या— योगी में अन्तस् (अन्तरंग) के शौच की दृढ़ स्थिति जब मैत्री, करुणा आदि की भावना द्वारा या फिर जप-तप एवं दीर्घकालीन नियमित अभ्यास-वैराग्य आदि के द्वारा हो जाती है, तब रजस् एवं तमस् गुणों के विकार-आवरण धुल जाते हैं और चित्त स्वच्छ हो जाता है। राग-द्वेष, ईर्ष्या आदि विकार (मल) समाप्त हो जाते हैं और सत्त्वगुण रूपी अन्तस् (अन्तःकरण) पूर्ण पवित्र हो जाता है। मन आह्लादित हो उठता है तथा चित्त में एकाग्रता आ जाती है। चित्त एकाग्र होने से योगी साधक अपनी समस्त इन्द्रियों को वश में कर लेता है। साधक के इन्द्रियजित् होने पर चित्त में विवेकख्याति रूपी आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है। इसे ही अन्तःकरण की शुचि (पवित्रता) कहा गया है॥ ४१॥

(९३) सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः॥ ४२॥

सूत्रार्थ— सन्तोषात् = संतोष से, अनुत्तमसुखलाभः = जिससे श्रेष्ठ अन्य कोई सुख नहीं है- ऐसे उस सर्वश्रेष्ठ सुख का लाभ प्राप्त होता है।

व्याख्या— योगी में जब संतोष-प्राप्ति की पूर्णतया दृढ़स्थिति हो जाती है, तब सत्त्व के प्रकाश में चित्त आह्लादित हो उठता है। तृष्णा का समूल विनाश हो जाता है और महान् सुख की प्राप्ति होती है। संतोष से अनन्त सुख की प्राप्ति होती है। उसकी समानता अन्य कोई भौतिक सुख नहीं कर सकते। वही सर्वश्रेष्ठ सुख है। 'संतोषः परमं सुखम्' अर्थात् संतोष (ही) परम (सर्वश्रेष्ठ) सुख है। जो कामादि भौतिक सुख तथा

स्वर्ग आदि महान् सुख हैं, वे तृष्णा नाश के सुख से १/१६ वें हिस्से के बराबर भी नहीं है। मन में प्रमाद एवं अकर्मण्यता आदि विकारों के कारण ही संतोष की दृढ़ स्थिति नहीं हो पाती। अतः योगी को नियमित अभ्यासपूर्वक योग-साधना से आलस्य-प्रमाद रूपी विकारों का शमन कर संतोष की दृढ़ स्थिति की प्राप्ति में तत्पर रहना चाहिए॥ ४२॥

(९४) कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ४३॥

सूत्रार्थ— तपसः = तप के प्रभाव से, अशुद्धिक्षयात् = जब अशुद्धि का क्षय (नाश) हो जाता है, तब; कायेन्द्रियसिद्धिः = शरीर एवं इन्द्रियों की सिद्धि हो जाती है।

व्याख्या— स्वधर्म के पालनार्थ व्रत-उपवास आदि सम्पन्न करने अथवा आत्म कल्याण-लोक कल्याण के लिए सभी तरह के कष्ट सहने का नाम ही 'तप' कहा जाता है। इसका उल्लेख इसी (साधन) पाद के प्रथम सूत्र में किया जा चुका है। यहाँ सार रूप ही प्रस्तुत कर रहे हैं। जैसे धातु को अग्नि में धीरे-धीरे, कुछ-कुछ समय के अन्तराल में तप्त करते रहने से उसके समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं, वैसे ही तप के नियमित अभ्यास द्वारा योगी का शरीर स्वस्थ, निर्मल, लघु एवं हलका हो जाता है। उसे शरीर सम्बन्धी अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ मिल जाती हैं। तृतीय (विभूति) पाद के ४५ वें ४६ वें सूत्र में वर्णित कायसम्पद्रूप शारीरिक सिद्धियाँ योगी प्राप्त कर लेता है तथा सूक्ष्म, दूर देश में तथा व्यवधानयुक्त स्थान में स्थित विषयों को दृष्टिगत करना, श्रवण करना आदि इन्द्रियों से सम्बन्धित सिद्धि भी मिल जाती है। ये अष्ट सिद्धियाँ निम्नवत् हैं- अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व ईशित्व और यत्रकामावसायित्व हैं। कुछ विद्वान् 'यत्र कामावसायित्व' के स्थान पर 'गरिमा' नामक सिद्धि का प्रतिपादन करते हैं॥ ४३॥

(९५) स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः॥ ४४॥

सूत्रार्थ— स्वाध्यायात्=स्वाध्याय से, इष्टदेवतासम्प्रयोगः = अपने इष्ट देवता का सम्यक् रूपेण साक्षात्कार हो जाता है।

व्याख्या— वेद-शास्त्रादि आर्षग्रन्थों के नियमित अभ्यास, मन्त्रजप एवं अपने स्वयं के जीवन के अध्ययन रूप स्वाध्याय के प्रभाव से योगी जिस इष्टदेवता का साक्षात्कार करना चाहता है, वह उसी इष्ट का साक्षात्कार कर लेता है। स्वाध्याय और प्रणव ॐकार के जप आदि से परब्रह्म की समीपता का बोध होता है तथा पुनः उसकी अनुकंपा (सहयोग) से मुक्ति-पद की प्राप्ति हो जाती है। स्वाध्याय द्वारा इष्ट के जिन गुणों की तथा मंत्र तंत्र की धारणा की जाती है, तत्पश्चात् ध्यान की पूर्ण दृढ़ स्थिति होने पर रजस्-तमस् गुणों से रहित हुआ चित्त सत्त्वगुण के आलोक द्वारा अपने इष्टदेवता के आकार में अवस्थित हो जाता है।।४४

(९६) समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥ ४५॥

सूत्रार्थ— ईश्वरप्रणिधानात् = ईश्वर की शरण में आ जाने से, समाधिसिद्धिः = समाधि की सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या— ईश्वर प्रणिधान का उल्लेख १/२३ एवं २/१ में किया जा चुका है। ईश्वर की शरण में समर्पित होकर जो योगी अपनी योग साधना में प्रवृत्त रहता है, उस समय उसकी योग साधना में आने वाले सभी तरह के विघ्नों का नाश हो जाता है और उसे समाधि की सिद्धि अतिशीघ्र मिल जाती है; क्योंकि ईश्वर पर समर्पित होकर रहने वाला योगी तो मात्र तत्परतापूर्वक योग साधना करता रहता है, उसे साधन के परिणाम की कोई चिन्ता नहीं रहती। उसकी साधना में आने वाले विघ्नों को समाप्त करने का और साधन की सिद्धि का भार ईश्वर के ऊपर हो जाता है। अतः उसके साधन का अनायास एवं शीघ्रतापूर्वक सम्पन्न

होना सहज ही है। इसमें यह कहना ठीक नहीं कि ईश्वरप्रणिधान से ही समाधि प्राप्त हो जाती है, तब योग के अन्य सात साधनों की क्या जरूरत है? योग के अन्य सात अंगों के बिना ईश्वरप्रणिधान की स्थति नहीं होती है। इसलिए दोनों ही साधनों से बिना किसी अवरोध के समाधि की प्राप्ति हो जाती है। समाधि के सिद्ध होने पर योगी देश-देशान्तर एवं काल-कालान्तर में होने वाले पदार्थों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है॥ ४५॥

(९७) स्थिरसुखमासनम्॥ ४६॥

सूत्रार्थ— स्थिरसुखम् = निश्चल (हिलने-डुलने एवं सक्रियता से रहित)— स्थिर होकर सुखपूर्वक बैठने का नाम, आसनम् = 'आसन' है।

व्याख्या— योगी अपनी योग्यतानुसार जिस नियम के द्वारा हिलने-डुलने से रहित होकर स्थिरभाव से सुखपूर्वक किसी भी तरह के कष्ट (पीड़ा) से रहित दीर्घावधि तक बैठ सके, वही आसन उसके लिए उचित होता है। इसके अतिरिक्त जिस आसन पर बैठकर उपासना की जाती है, उसका भी नाम आसन होता है। इसलिए वह आसन भी स्थिर एवं सुगमतापूर्वक बैठने के अनुकूल होना चाहिए। यहाँ सूत्रकार ने आसनों का वर्णन न करके मात्र बैठने का तरीका योगी की इच्छा पर छोड़ दिया है। वही आसन श्रेष्ठ है, जिससे शरीर स्वस्थ, हलका एवं योग साधन के योग्य बन सके। श्रीमद्भगवद्गीता अ० ६ श्लोक ११ से १३ तक एवं श्वेता० उ० २/८,१० में जिस आसन पर प्रतिष्ठित होकर योग साधना करने का उल्लेख मिलता है, वहाँ योगी को अपना शरीर स्थिर एवं निश्चल प्रतिष्ठित करके अपने शरीर, गर्दन एवं सिर-इन तीनों को एक रेखा में सीधा एवं स्थिर रखने के लिए कहा है। उन दोनों ग्रन्थों में भी अन्य किसी विशेष आसन के नाम का उल्लेख नहीं है॥ ४६॥

(९७) प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७॥

सूत्रार्थ— प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् = (उपर्युक्त आसन) प्रयत्न की शिथिलता से तथा अनन्त (परमात्मा) में मन लगाने से (सिद्ध होता है)।

व्याख्या— देह को सहजतापूर्वक सीधा एवं स्थिर करके आरामदेह स्थिति में बैठ जाने के पश्चात् देह सम्बन्धी समस्त चेष्टाओं अर्थात् शरीर की सहज चेष्टा, अङ्ग-अवयवों में शरीर का डाँवाँडोल होना कम्पन होना, एवं उससे उपरत होना ही प्रयत्न की शिथिलता है। अनन्त परमात्मा में मन को पूरी तरह से तल्लीन कर देने से ही आसन सिद्ध होता है। परमेश्वर में तद्रूप हो जाने से योगी अपने आपको विस्मृत हुआ-सा जानकर दीर्घकाल तक सुखपूर्वक प्रतिष्ठित हो सकता है। यहाँ सूत्र में 'अनन्त समापत्ति' पद आया है, इसका अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्ति (स्वभाववश) प्रत्येक क्षण विभिन्न पदार्थों की ओर भ्रमण करती रहती है और उन्हीं में चलायमान रहती है। अपरिच्छिन्न (असीम) आकाशादि में जो अनन्तता है, उसमें चित्त को तदाकार करने से चित्त विषय (विकार) रहित होकर स्थिर हो जाता है, तभी आसन सिद्धि की स्थिति प्राप्त होती है॥ ४७॥

(९९) ततो द्वन्द्वानभिघातः॥ ४८॥

सूत्रार्थ— ततः = उस, (आसन की सिद्धि) से, द्वन्द्वानभिघातः = (जाड़ा-गर्मी आदि) द्वन्द्वों का आघात नहीं लगता।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्रों में वर्णित प्रतिपादनों के द्वारा जब आसन-सिद्ध हो जाता है, तब शीतलता-उष्णता, क्षुधा-पिपासा, लाभ-हानि आदि द्वन्द्वों (विकार-क्लेश) के प्रभाव से शरीर प्रभावित

(१००) तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥

सूत्रार्थ— तस्मिन् सति = उस आसन की सिद्धि होने के बाद, श्वासप्रश्वासयोः = श्वास और प्रश्वास की, गतिविच्छेदः = गति का स्थिर हो जाना, प्राणायामः = 'प्राणायाम' कहलाता है।

व्याख्या— नासिका द्वारा प्राणवायु का शरीर में प्रविष्ट होना श्वास कहलाता है और शरीर के अन्दर स्थित वायु का बाहर निकलना प्रश्वास कहलाता है। श्वास-प्रश्वास (इन दोनों) की गतियों के प्रवाह का रुक जाना अर्थात् प्राणवायु की आवागमन रूप क्रिया का बंद हो जाना ही प्राणायाम का सामान्य लक्षण कहलाता है। प्राणायाम के तीन भेद कहे गये हैं-१. बाह्यवृत्ति (रेचक) २.आभ्यन्तर-वृत्ति (पूरक) और ३. स्तम्भ-वृत्ति (अर्थात् अन्तः कुम्भक एवं बाह्य कुम्भक)। यहाँ सूत्र में प्राणायाम का सम्पन्न होना आसन की सिद्धि के पश्चात् कहा गया है। इससे यह प्रकट होता है कि आसन की सिद्धि का अभ्यास किये बिना ही जो साधक प्राणायाम करते हैं, वह उचित नहीं है। प्राणायाम का अभ्यास करने से पूर्व आसन की स्थिरता परमावश्यक है। अतः स्थिर सुखासन पर आसीन होने के पश्चात् ही प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए, तभी सफलता मिलती है॥ ४९ ॥

उपर्युक्त प्राणायाम के लक्षणों को समझाने के लिए यहाँ सूत्र में प्राणायाम के तीन प्रकार कहे गये हैं —

(१०१) बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ॥ ५० ॥

सूत्रार्थ— बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिः = (उपर्युक्त प्राणायाम) बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तर वृत्ति और स्तम्भवृत्ति वाला (तीन प्रकार का) होता है, (तथा वह); देशकालसंख्याभिः = देश, काल एवं संख्या के द्वारा, परिदृष्टः = अच्छी तरह से देखा जाता हुआ, दीर्घसूक्ष्मः = विशाल एवं हलका (होता जाता है)।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में प्राणायाम के तीन प्रकार के लक्षण कहे गये हैं, प्रथम-बाह्यवृत्ति (रेचक) द्वितीय-आभ्यन्तर वृत्ति (पूरक) एवं तृतीय -स्तम्भवृत्ति (कुम्भक)। प्राणायाम के इन तीनों लक्षणों को योगी देश, काल एवं संख्या के द्वारा अवलोकन करता रहता है कि वह किस स्थिति तक पहुँच चुका है। इस तरह से परीक्षण करते-करते प्राणायाम के ये लक्षण जैसे-जैसे प्रगति करते जाते हैं, वैसे-वैसे ही उनमें विशालता एवं हलकापन बढ़ता चला जाता है। प्राणायाम के तीनों लक्षणों को इस प्रकार समझा जा सकता है।

१. बाह्यवृत्ति (रेचक)— प्राणवायु को नासिका द्वारा शरीर से बाहर निकालकर बाहर ही जितने समय तक सरलतापूर्वक रुक सके, रोके रहना एवं साथ ही इस बात का परीक्षण करते रहना कि वह (प्राणवायु) बाहर आकर कहाँ रुका है, कितने समय तक रुका है तथा उस समय में स्वाभाविक प्राण की गति की कितनी संख्या है? यह 'बाह्यवृत्ति' (रेचक) प्राणायाम कहलाता है; क्योंकि उसमें रेचन पूर्वक प्राण को रोका जाता है। नियमित अभ्यासपूर्वक यह दीर्घ अर्थात् बहुत काल तक रोके रहने वाला एवं सूक्ष्म अर्थात् हलके रूप में प्रायः सहजतापूर्वक साध्य हो जाता है, विशेष श्रम नहीं करना पड़ता।

२. आभ्यन्तरवृत्ति (पूरक)— प्राणवायु को नासिका द्वारा शरीर के अन्दर जितने समय तक आसानी से रुक सके, रोके रहना तथा साथ ही साथ यह देखते रहना कि आभ्यन्तर देश (क्षेत्र) में कहाँ तक पहुँचकर स्थिर होता है और वहाँ पर कितने समय सुखपूर्वक स्थिर रहता है तथा उतने ही काल में प्राण की सहज सामान्य गति की कितनी संख्या होती है। इसे ही 'आभ्यन्तर' प्राणायाम कहते हैं। इसका अपर नाम 'पूरक' कहा गया है; क्योंकि इसमें शरीर के अन्दर ले जाकर प्राणवायु को स्थित किया जाता है। नियमित अभ्यास द्वारा यह भी दीर्घकाल तक स्थित एवं सूक्ष्म होता जाता है।

३. स्तम्भवृत्ति (कुम्भक)— शरीर के अन्दर जाने एवं बाहर निष्कासित होने वाले प्राणों की जो सहज गति है, उसे प्रयासपूर्वक बाहर या अन्दर निष्कासित करने अथवा अन्दर खींचने का अभ्यास न करके, प्राणवायु सहजतापूर्वक बाहर निष्कासित हुआ हो अथवा अन्दर प्रविष्ट हुआ हो, जहाँ पर भी हो, वहीं पर उसकी गति रोक देना तथा यह देखते रहना कि प्राण किस क्षेत्र (देश) में स्थिर हुआ है, कितनी अवधि तक सुखपूर्वक स्थिर रहता है, इस अवधि में सहज गति की कितनी संख्या होती है, यह जानना चाहिए। यही 'स्तम्भवृत्ति' वाला प्राणायाम है, इसे ही कुम्भक प्राणायाम भी कहते हैं। नियमित अभ्यास से यह भी दीर्घ एवं सूक्ष्म (हलका) होता जाता है। अभ्यास की अवधि में प्राणायाम के तीनों भेद-रेचक, पूरक एवं कुम्भक के साथ ॐ अथवा गायत्री अथवा अन्य अपने किसी इष्ट के मन्त्र द्वारा प्रकाश का ध्यान करते हुए जप करना चाहिए।

किन्हीं-किन्हीं टीकाकारों ने प्राणायाम के आठ भेद बतलाए हैं। उनके नाम निम्नवत् हैं-१. सहित २.सूर्यभेदी ३. उज्जायी ४. शीतली ५. भस्त्रिका ६. भ्रामरी ७. मूर्च्छा एवं ८. केवली।

प्राणायाम का अभ्यास सतर्कतापूर्वक करना चाहिए। इसकी सिद्धि (सफलता) तभी मिल सकती है, जब यह किसी अनुभव प्राप्त सफल मार्गदर्शक गुरु से एवं शास्त्रों के अध्ययन द्वारा पूर्ण जानकारी प्राप्त करके प्रारम्भ किया जाए। समर्थ गुरु के मार्गदर्शन में यह सहजता से सिद्ध हो सकता है॥ ५॥

(१०२) बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ ५१॥

सूत्रार्थ— बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी = बाहर एवं भीतर के विषयों का परित्याग कर देने से, अपने-आप होने से, चतुर्थः = यह चौथा प्राणायाम है।

व्याख्या— यह चतुर्थ प्राणायाम पूर्व सूत्र में वर्णित तीन तरह के (रेचक, पूरक एवं कुम्भक) प्राणायामों से सर्वथा पृथक् है। सूत्रकार ने यही तथ्य प्रदर्शित करने के लिए यहाँ सूत्र में 'चतुर्थ' पद का प्रयोग किया है। बाह्य एवं अन्तः के विषयों के चिन्तन का परित्याग कर देने से अर्थात् इस अवधि में प्राण बाहर निष्कासित हो रहे हों अथवा अन्दर गमन कर रहे हों अथवा गतिशील हों या स्थिर हों, इस तरह की जानकारी को स्वतः परित्याग करके और मन को अपने इष्ट के ध्यान में विलीन कर देने से देश (क्षेत्र), काल एवं संख्या के ज्ञान के अभाव में स्वयमेव जो प्राणों की गति जिस किसी भी क्षेत्र में रुक जाती है, वही यह चतुर्थ प्राणायाम है। यह सहज ही आसानी से होने वाला राजयोग का प्राणायाम है। इस प्राणायाम में मन की चञ्चलता शान्त होने के कारण स्वयं ही प्राणों की गति रुक जाती है और पूर्व सूत्र में वर्णित (रेचक, पूरक एवं कुम्भक) प्राणायामों में प्रयासपूर्वक प्राणों की गति को स्थिर करने का अभ्यास करते-करते प्राणों की गति का निरोध हो जाता है, यही इस चतुर्थ प्राणायाम की विशिष्टता है॥ ५१॥

अब प्राणायाम के फल का वर्णन किया जा रहा है —

(१०३) ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ ५२॥

सूत्रार्थ— ततः = उस (प्राणायाम के अभ्यास) से, प्रकाशावरणम् = प्रकाश (ज्ञान) का आवरण, क्षीयते = क्षीण हो जाता है।

व्याख्या— योगी-साधक का जैसे-जैसे प्राणायाम का नियमित अभ्यास प्रवर्द्धित होता जाता है, वैसे-वैसे उसके संचित कर्म, संस्कार एवं अविद्याजनित क्लेश-विकारादि जो कि ज्ञान के आवरण रूप हैं, वे सभी क्षीण होते चले जाते हैं। इसी अज्ञानता के आवरण में ज्ञान सतत आवृत रहने के कारण ही सांसारिक विषय-भोगों से पीड़ित मनुष्य दुःखों(क्लेशों)को भोगता रहता है। अतः जब क्लेशादि संचित

व्याख्या— योगी-साधक का जैसे-जैसे प्राणायाम का नियमित अभ्यास प्रवर्द्धित होता जाता है, वैसे-वैसे उसके संचित कर्म, संस्कार एवं अविद्याजनित क्लेश-विकारादि जो कि ज्ञान के आवरण रूप हैं, वे सभी क्षीण होते चले जाते हैं। इसी अज्ञानता के आवरण में ज्ञान सतत आवृत रहने के कारण ही सांसारिक विषय-भोगों से पीड़ित मनुष्य दु:खों (क्लेशों)को भोगता रहता है। अत: जब क्लेशादि संचित इन कर्मों का पर्दा प्राणायाम के अभ्यास द्वारा शनै:-शनै: दुर्बल होते-होते सर्वथा क्षीणता को प्राप्त हो जाता है, तब योगी का विवेकज्ञान रूपी प्रकाश सूर्य के सदृश प्रकाशित हो जाता है। जिस प्रकार से अग्नि द्वारा तप्त हुए स्वर्ण के समस्त विकार विनष्ट हो जाते हैं,उसी प्रकार योगी के समस्त आवरण प्राणायाम के नियमित अभ्यास द्वारा समाप्त हो जाते हैं। अत: योगी-साधक को प्राणायाम का नियमित अभ्यास आत्मिक उत्थान हेतु सतत करते रहना चाहिए॥ ५२॥

प्राणायाम का द्वितीय फल इस सूत्र में विवेचित किया जा रहा है —

(१०४) धारणासु च योग्यता मनसः॥ ५३॥

सूत्रार्थ— च = और (भी), धारणासु = समस्त धारणाओं में, मनस: = मन की, योग्यता = योग्यता होती है।

व्याख्या— (साधक में) प्राणायाम के दीर्घकालीन नियमित अभ्यास द्वारा ही मन में धारणा की योग्यता आ जाती है अर्थात् उसे चाहे जिस देश (क्षेत्र) में सहज ही स्थिर किया जा सकता है। प्राणायाम में सतत आध्यात्मिक देश की भावना (अनुभव) करनी पड़ती है। इस प्रकार से करते रहने से चित्त को उन देशों(क्षेत्रों)में प्रतिष्ठित करने की योग्यता प्राप्त हो जाती है।'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'(समाधि पाद १/३४)सूत्र द्वारा भी यह जानकारी मिलती है अर्थात् प्राण के प्रच्छर्दन विधारण द्वारा स्थिति सिद्ध होती है। स्थिति का अर्थ ही धारणा अर्थात् अभीष्ट विषय में चित्त को प्रतिष्ठित करना है॥ ५३॥

(१०५) स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ ५४॥

सूत्रार्थ— स्वविषयासम्प्रयोगे = अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों का, चित्तस्वरूपानुकार: इव = जो चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाता है वह, प्रत्याहार: = प्रत्याहार है।

व्याख्या— पूर्व सूत्रों में वर्णित यम, नियम, आसन एवं प्राणायाम की क्रिया द्वारा अभ्यास करते-करते मन एवं समस्त इन्द्रियाँ परिष्कृत हो जाती हैं। तत्पश्चात् इन्द्रियों की बाह्य वृत्ति को सब ओर से हटाकर, एकत्रित करके मन में लय करने के अभ्यास को 'प्रत्याहार' कहा गया है। इन्द्रियों का विषयों से अलग होना ही प्रत्याहार है। जिस समय साधक अपने साधना काल में इन्द्रियों के विषयों का परित्याग कर देता है और चित्त को अपने इष्ट में एकाकार कर (लगा) देता है, तब उस समय जो चिन्तन इन्द्रियों के विषयों की तरफ न जाकर चित्त में समाहित हो जाता है, वही प्रत्याहार सिद्धि की पहचान है। यदि उस क्षण भी इन्द्रियाँ पूर्ववत् अभ्यास से इसके समक्ष बाह्य विषयों का चित्र दिखाती रहें, तो यह जानना चाहिए कि अभी प्रत्याहार सिद्ध नहीं हुआ है।

जिस तरह से मनुष्य की छाया चलने पर चलने लगती है, रुकने पर रुक जाती है, वैसे ही इन्द्रियाँ चित्त के अधीन रहकर कार्य करती हैं। यही प्रत्याहार के अभिमुख होना है। कठ० १.३.१३ में भी 'वाक्' शब्द से उपलक्षित इन्द्रियों को बाह्य विषयों से विमुख होकर मन में विलय करने की बात कहकर यही भाव प्रदर्शित किया गया है। इसी उपनिषद् में अन्यत्र यह भी कहा गया है कि परमात्मसत्ता ने

(१०६) ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥ ५५॥

सूत्रार्थ— ततः = उस प्रत्याहार से, इन्द्रियाणाम् = इन्द्रियों की, परमा = परम्, वश्यता = वश्यता (वश में हो जाती है)।

व्याख्या— योगी-साधक जब प्रत्याहार की सिद्धि प्राप्त कर लेता है, तब समस्त इन्द्रियाँ उसके वश में हो जाती हैं। वह जितेन्द्रिय हो जाता है। इन्द्रियों की स्वतन्त्रता का सदैव के लिए अभाव हो जाता है। प्रत्याहार की सिद्धि के पश्चात् इन्द्रिय-जित् होने के लिए योगी को फिर अन्य किसी साधन की आवश्यकता नहीं रह जाती। यह तभी सम्भव है, जब चित्त एकाग्र हो जाता है तथा चित्त के निरोध होने पर समस्त इन्द्रियों का भी निरोध हो जाता है। यही इन्द्रियों की परमवश्यता है॥ ५५॥

॥ इति साधनपादः समाप्तः ॥

॥ अथ विभूतिपादः ॥

प्रथम (समाधि) पाद में श्रेष्ठ साधकों, जिनके संस्कार उत्तम हैं, उनके लिए योग का स्वरूप प्रतिपादित किया गया है। द्वितीय (साधन) पाद में मध्यम स्तर के साधकों के लिए योगाङ्गों के पाँच बहिरंग साधनों- यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार का फल सहित विवेचन किया गया है। अब यहाँ तृतीय (विभूति) पाद में शेष योगाङ्गों के तीन अन्तरङ्ग साधनों-धारणा, ध्यान एवं समाधि का उल्लेख किया जा रहा है। ये तीनों योगाङ्ग जब किसी ध्येय में सम्यक् रूप से समाहित हो जाते हैं, तब इन्हें संयम के नाम से जाना जाता है। योग की विभूतियों की प्राप्ति हेतु संयम की आवश्यकता होती है। इसलिए इन अन्तरङ्ग साधनों का उल्लेख इस तृतीय (विभूति) पाद में ऋषि ने किया है। यहाँ सर्वप्रथम धारणा के स्वरूप का वर्णन किया जा रहा है—

(१०७) देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— चित्तस्य देशबन्धः = (शरीर के बाहर अथवा भीतर कहीं पर भी) किसी एक देश (क्षेत्र) में चित्त को स्थिर करना ही, धारणा =धारणा कहलाता है।

व्याख्या— यहाँ सूत्र में देशबन्धः पद का अभिप्राय यह है कि चित्तवृत्ति को शरीर के अन्दर किसी स्थान विशेष जैसे-नाभिचक्र, हृदयकमल, नासिका के अग्रभाग, दोनों नेत्रों के मध्य (भृकुटि) एवं जिह्वाग्र में अथवा आकाश, सूर्य, चन्द्रमा आदि देवता या किसी मूर्ति एवं शरीर के बाहर के अन्य पदार्थों में से किसी एक में अन्य सभी तरह के विषयों (विकारों) से विरक्त हो, एक ही ध्येय विषय पर चित्त की वृत्ति को स्थिर (केन्द्रित) करने का नाम ही 'धारणा' है। यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार के द्वारा चित्तवृत्ति की चंचलता संयमित कर उसे शरीर के अन्दर या बाहर के किन्हीं भी पदार्थों में इस तरह से आबद्ध कर देना चाहिए, जिससे कि वृत्ति मात्र से उसी स्थान-विशेष में एकाग्रतापूर्वक स्थित हो जाये, अन्यत्र कहीं न जाये। यही धारणा है ॥ १ ॥

अब इस सूत्र में ध्यान के स्वरूप का वर्णन करते हैं—

(१०८) तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ॥ २ ॥

सूत्रार्थ— तत्र = (जहाँ पर चित्त को केन्द्रित किया जाये) उसी में, प्रत्ययैकतानता = वृत्ति (चित्तवृत्ति) का एक तार चलना (एकाग्र होना) ही, ध्यानम् = 'ध्यान' कहलाता है।

व्याख्या— धारणा के पश्चात् ध्यान का क्रम सम्पन्न होता है अर्थात् धारणा द्वारा शरीर के भीतर किसी क्षेत्र विशेष में या बाहर अन्य किसी देवी-देवता आदि में जहाँ चित्तवृत्ति को स्थिर किया है, उसी ध्येय में एकतानता (एकाग्रता) ही ध्यान है अर्थात् एक मात्र ध्येय की एक ही तरह की वृत्ति का प्रवाह गतिशील होना, उसके मध्य में किसी भी दूसरी वृत्ति का न उठना ही 'ध्यान' कहलाता है। चित्त-वृत्तियाँ अपने ध्येय में इस तरह से तल्लीन हो जाएँ, जैसे भ्रमर कमल पुष्प में लीन होने पर सब कुछ भूल जाता है तथा सूर्यास्त में कमल का मुख बंद होने पर स्वयं उसी में बन्द हो जाता है। ऐसी तल्लीनता का होना ही 'ध्यान' कहलाता है ॥ २ ॥

इस सूत्र में समाधि के स्वरूप का वर्णन किया गया है—

(१०९) तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥

सूत्रार्थ— अर्थमात्रनिर्भासम् = जब (ध्यान में) मात्र ध्येय (लक्ष्य) की ही प्रतीति होती है तथा, स्वरूपशून्यमिव = चित्त का निज स्वरूप शून्य-सा हो जाता है, तब, तदेव = वही (ध्यान ही), समाधिः = समाधि हो जाता है।

व्याख्या— ध्यान का प्रमुख विषय ध्येय होता है। साधक को ध्येय (अपने लक्ष्य) का ही ध्यान करना चाहिए। यह (ध्यान) चित्त की वह वृत्ति है, जिसके द्वारा विषय का ध्यान होता है। योगी जब ध्यान करता है, तब उसे यही बोध होता है कि मैं ध्येय का ध्यान करता हूँ अर्थात् ध्यातृ, ध्येय और ध्यान-इन तीनों के अलग-अलग भाव होते हैं; परन्तु ध्यान करते-करते जब ध्यातृ (चित्त) ध्येय के आकार में परिणत हो जाता है, तब उसे अपने निज स्वरूप का अभाव-सा हो जाता है। उसे यह भाव नहीं रहता कि मैं ध्यान कर रहा हूँ। उसे ध्येय से पृथक् उपलब्धि नहीं होती; उसे मात्र ध्येय के स्वरूप का ही भाव होता है, उस समय उस ध्यान का नाम ही 'समाधि' हो जाता है। समाधि का यह लक्षण निर्वितर्क समापत्ति (समाधि) के नाम से प्रथम (समाधि) पाद के तैंतालिसवें सूत्र में किया गया है। समाधि की स्थिति में एक मात्र ध्येय ही प्रतिभासित होता है। इसे ही सम्प्रज्ञातयोग या सबीज समाधि के नाम से जाना जाता है। इसका कारण यह है कि इसमें संसार का बीज विषय ध्येयाकार वृत्ति रूप में उपस्थित रहता है। जब ध्येय के आकार की वृत्ति भी न रहे, तब उसे असम्प्रज्ञातयोग या निर्बीज समाधि कहा जाता है॥ ३॥

यहाँ इस सूत्र में उपर्युक्त तीनों साधनों के सांकेतिक नाम 'संयम' का वर्णन किया जा रहा है—

(११०) त्रयमेकत्र संयमः॥ ४॥

सूत्रार्थ— एकत्र = किसी एक ध्येय-विषय में, त्रयम् = तीनों का होना, संयमः = संयम कहलाता है।

व्याख्या— किसी एक ध्येय-विषय में इन तीनों धारणा, ध्यान एवं समाधि के समुदाय को योग के मनीषियों ने संयम की संज्ञा दी है। संयम इसलिए कहा गया है कि इन तीनों के सिद्ध होने पर विभिन्न तरह की सिद्धियों का उल्लेख किया गया है। अतः इस ग्रन्थ में यत्र-तत्र किसी विषय में संयम करने को कहा जाए अथवा संयम का फल विवेचित किया जाये-उसे (संयम के नाम से) किसी एक ध्येय में उक्त तीनों का होना जानना चाहिए ; क्योंकि समाधि के 'अंग' धारणा एवं ध्यान दोनों ही हैं और समाधि अंगी है। अतः तीनों का समुदाय ही संयम कहा गया है॥ ४॥

इस सूत्र में संयम की सिद्धि का फल कहा गया है—

(१११) तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः॥ ५॥

सूत्रार्थ-तज्जयात्=उसको(संयम को)जीत लेने से,प्रज्ञाऽऽलोकः=बुद्धि का आलोक प्राप्त होता है।

व्याख्या— जब योगी उक्त साधन करते-करते संयम को अपने वश में कर लेता है अर्थात् चित्त में ऐसी दक्षता प्राप्त कर लेता है कि जिस विषय में वह संयम करना चाहे, उसी में तत्क्षण संयम हो जाता है, तब उस समय योगी को बुद्धि का आलोक प्राप्त हो जाता है अर्थात् उसकी बुद्धि में अलौकिक ज्ञान शक्ति आ जाती है। अलौकिक ज्ञान से विभिन्न तरह की विभूतियाँ स्वतः ही वश में होने लगती हैं। साधना के उत्तरार्द्ध में विवेक-ख्याति (कैवल्य) की प्राप्ति होती है, इसी को प्रथम समाधि पाद के ४७ वें-४८ वें सूत्र में ऋतम्भरा प्रज्ञा के नाम से विवेचित किया गया है॥ ५॥

यहाँ संयम के प्रयोग विधि का विवेचन करते हैं—

(११२) तस्यभूमिषु विनियोगः॥ ६॥

सूत्रार्थ— तस्य = उस (संयम) का (क्रमानुसार), भूमिषु = भूमियों में, विनियोगः = विनियोग (करना चाहिए)।

व्याख्या— योगी को उस (संयम) का क्रमपूर्वक चित्त भूमियों में विनियोग (प्रयोग) करते रहना (लगाना) चाहिए अर्थात् सर्वप्रथम स्थूल विषय भूमि में संयम करना चाहिए। जब वह वश में हो जाए, तब सूक्ष्म वृत्ति वाली विषय भूमि में संयम करना चाहिए। इसी तरह जिस-जिस क्षेत्र (भूमि) में संयम परिपक्व होता जाये, उस-उस (भूमि) से आगे प्रगति करते रहना चाहिए। ऐसे ही सतत प्रगति करते रहने से विवेक ज्ञानरूपी अभीष्ट लक्ष्य (फल) की प्राप्ति हो जाती है।

प्राथमिक भूमि को वश में (जय) किये बिना उच्चभूमि में (अवस्था में) संयम करने से ज्ञानरूपी अभीष्ट लक्ष्य फल की प्राप्ति होना असम्भव है। संयम ही चित्त को वश में करने एवं आत्मोन्नति का प्रमुख कारण है। धारणा, ध्यान एवं समाधि-ये तीनों ही संयम के अंग कहे गये हैं। चित्त के किसी स्थान-विशेष में स्थित होने को धारणा, चित्त में देर तक स्थिर रहने को ध्यान कहा गया है और जब चित्त को ध्याता एवं ध्येय का ज्ञान न रहे, तब वही समाधि की अवस्था होती है। यहाँ सूत्र में 'विनियोग' पद का अर्थ चित्त भूमियों में 'लगाना' किया गया है॥ ६॥

इस सूत्र में तीन अंतरंग साधनों-धारणा, ध्यान एवं समाधि का उल्लेख किया गया है—

(११३) त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७॥

सूत्रार्थ — पूर्वेभ्यः = पूर्व में कहे हुए पाँच योगाङ्गों की अपेक्षा, त्रयम् = ये तीनों (धारणा, ध्यान, समाधि), अन्तरङ्गम् = अन्तरङ्ग (साधन हैं)।

व्याख्या— इसके पूर्व द्वितीय (साधन) पाद में वर्णित जो योग के यम, नियम, आसन, प्राणायाम एवं प्रत्याहार- ये पाँच अङ्ग कहे गये हैं। ये पाँचों बहिरंग साधन हैं। वस्तुतः ये पाँचों अङ्ग चित्त को स्वच्छ, विकार रहित बनाकर सम्प्रज्ञात समाधि योग की स्थिति निर्मित करते हैं; किन्तु इन अङ्गों की अपेक्षा उपर्युक्त धारणा, ध्यान एवं समाधि-ये तीनों अन्तरङ्ग साधन हैं। ये तीनों साधन सम्प्रज्ञात समाधि के ही अङ्ग हैं अर्थात् सम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति एवं संयम की स्थिति समान होने से इन तीनों साधनों का योग-सिद्धि के साथ अत्यन्त निकट का संबंध है। फिर भी निर्बीज समाधि में धारणा, ध्यान एवं समाधि को बहिरंग साधन कहा गया है। इसका विवेचन अगले सूत्र में करते हैं॥ ७॥

(११४) तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य॥ ८॥

सूत्रार्थ— तदपि = (उपर्युक्त कहे हुए धारणा आदि तीनों) साधन भी, निर्बीजस्य = निर्बीज समाधि के, बहिरङ्गम् = बहिरङ्ग (साधन) हैं।

व्याख्या— ये धारणादि तीनों साधन सम्प्रज्ञात समाधि(सबीज समाधि)के अन्तरङ्ग हैं; लेकिन असम्प्रज्ञात (निर्बीज) समाधि के अन्तर्गत ये भी बहिरङ्ग साधन बतलाये गये हैं। जिस प्रकार से पूर्वोक्त यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार परम्परा से उपकारक होते हुए समान विषय न होते हुए भी सबीज समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं, उसी प्रकार धारणा, ध्यान, समाधि परम्परा से उपकारक होते हुए भी समान विषय न होने से निर्बीज समाधि के बहिरङ्ग साधन हैं; क्योंकि इसमें सभी तरह की वृत्तियों का भाव बना रहता है। जिस साधन के दृढ़ होने के पश्चात् साध्य की सिद्धि निश्चित ही हो, वही अन्तरङ्ग होता है। धारणादि सालम्ब(किसी को ध्येय-आश्रय बनाकर)ध्येय रूप समान विषय वाले होते हैं और उनके दृढ़ होने से सम्प्रज्ञात योग सिद्ध होता है। अतः वे सबीज समाधि के अन्तरङ्ग हैं; परन्तु निर्बीज समाधि निरालम्ब-निर्विषय होती है और धारणादि संयम के दृढ़ होने पर असंप्रज्ञात निर्बीज योग निश्चित ही सिद्ध हो

जाये,ऐसा कोई सटीक नियम नहीं है। अत: निर्बीज समाधि के प्रति धारणादि तीनों बहिरंग साधन हैं। इसका अन्तरंग पर-वैराग्य है,जो निर्बीज समाधि के समान निरालम्ब एवं निर्विषय है तथा जिसके दृढ़ होने पर असम्प्रज्ञात निर्बीज समाधि निश्चित ही सिद्ध हो जाती है॥ ८॥

तीनों गुण चञ्चल हैं, उनमें प्रत्येक क्षण परिणाम होता रहता है। चित्त को गुणों का कार्य कहा गया है। अत: चित्त भी कभी एक अवस्था में स्थिर नहीं रह सकता। निरोध-समाधि के समय चित्त का परिणाम कैसा रहता है? इसका विस्तार इस सूत्र में किया जा रहा है—

(११५) व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणाम:॥ ९॥

सूत्रार्थ— व्युत्थाननिरोधसंस्कारयो: अभिभवप्रादुर्भावौ = व्युत्थान अवस्था के संस्कारों का दब जाना और निरोध-अवस्था के संस्कारों का प्रादुर्भाव हो जाना यह, निरोधक्षणचित्तान्वय: = निरोधकाल में चित्त का निरोध-संस्कारानुगत होना, निरोधपरिणाम: = निरोधपरिणाम है।

व्याख्या— निरोध-समाधि के अन्तर्गत चित्त की समस्त वृत्तियों का अभाव हो जाता है; किन्तु उनके संस्कारों का पूर्णतया विनाश नहीं होता। उस अवधि में मात्र संस्कार ही शेष रहते हैं। इसका विवेचन प्रथम (समाधि) पाद के अठारहवें सूत्र में किया गया है। इसलिए निरोध की अवधि में चित्त व्युत्थान एवं निरोध दोनों ही तरह के संस्कार में संव्याप्त रहता है; क्योंकि चित्त को धर्मी एवं संस्कार को उसका धर्म बताया गया है, धर्मी अपने धर्म में सतत संव्याप्त रहता है, यही नियम है। इसका इसी पाद के १४ वें सूत्र में और विस्तृत वर्णन किया गया है। उस निरोध की अवधि में जो व्युत्थान के संस्कारों का दब जाना एवं निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव हो जाना है तथा चित्त का निरोध-संस्कारों से सम्बंधित हो जाना है, वह व्युत्थान धर्म के द्वारा निरोध धर्म में परिणत होना ही निरोध परिणाम है।

निरोध का अर्थ है- समस्त वृत्तियों का रुक जाना अर्थात् पर-वैराग्य संस्कार ही निरोध है। ये तीन परिणाम तीनों गुणों से प्रादुर्भूत समस्त द्रव्यों में तीन प्रकार के कहे गये हैं- १. धर्म परिणाम २. लक्षण परिणाम एवं ३. अवस्था परिणाम।

जिस वस्तु में ये परिणाम होते हैं, उसे धर्मी कहते हैं और वे परिणाम धर्म कहलाते हैं। निरपेक्ष धर्मी तो मात्र कारणरूपा प्रकृति ही है। दूसरे अन्य उसके सभी विकार महत्तत्त्व से लेकर पाँचों स्थूलभूत पर्यन्त सापेक्ष धर्मी हैं, इन धर्मियों में जिस तरह से ये तीनों परिणाम होते हैं, उनके उदाहरण इस प्रकार हैं —

१. धर्मपरिणाम— जैसे कुम्भकार मिट्टी को गूँथकर उससे भिन्न-भिन्न तरह के घट आदि पात्रों का निर्माण करता है। यहाँ पर मिट्टी द्रव्य धर्मी एवं घट आदि पात्र धर्म हैं। धर्मी (मिट्टी) में किसी भी तरह का परिवर्तन नहीं होता; किन्तु घट आदि परिवर्तित होते रहते हैं अर्थात् पात्र के आकार, जो भिन्न प्रकार के परिवर्तन से बने हैं, इनमें से एक-धर्म का दबना एवं द्वितीय-धर्म का प्रादुर्भाव होना ही मिट्टी का धर्म परिणाम कहलाता है।

२. लक्षणपरिणाम— जिस प्रकार से घट आदि पात्रों का आकार पूर्णरूप से मिट्टी में छिपा हुआ था, वह घट (घड़ा) बनकर प्रकट हो गया और आगे जीर्ण-शीर्ण होने पर पुन: मिट्टी में मिल जाएगा। इस तरह से मिट्टी में तीनों काल में घट आदि वर्तमान रहने से काल-भेद से धर्मी मिट्टी में तीन लक्षण परिणाम कहे गये हैं। १. अनागत (भविष्य) लक्षण परिणाम, २. वर्तमान लक्षण परिणाम ३. अतीत (भूत) लक्षण परिणाम।

३. अवस्थापरिणाम — घट आदि जीर्ण-शीर्ण होने एवं किसी भी समय टूट-फूट सकते हैं। यह जीर्णावस्था प्रत्येक क्षण होती रहती है। इसी कारण उसे अवस्था परिणाम कहा जाता है। इन परिणामों में धर्म एवं लक्षण परिणाम वस्तु के प्रादुर्भाव काल में होता है तथा अवस्था परिणाम उसके अन्त होने तक होता रहता है। अन्य दूसरे दर्शनों में गुण और गुणी को धर्म और धर्मी कहा गया है; लेकिन योग में धर्म, धर्मी शब्द कार्य-कारण के अर्थ में प्रयुक्त किये गये हैं।

चित्त त्रिगुणात्मक होने से परिणाम है, उनमें प्रत्येक क्षण वृत्तिरूप परिणाम होता है। व्युत्थान के संस्कार (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त) चित्त के धर्म हैं। अत: वृत्तियों के निरोध होने पर भी इनका (व्युत्थान के संस्कारों का) विद्यमान रहना स्वाभाविक है। इसी तरह निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार भी चित्त के धर्म हैं। इन दोनों संस्कार रूपी धर्मों में से एक धर्म का दबना दूसरे का प्रकट होना धर्मी चित्त का धर्म परिणाम है अर्थात् चित्त का निरोध संस्कारों से सम्बन्धित हो जाना, व्युत्थान धर्म से निरोध धर्म में परिणत होने को ही निरोध परिणाम कहा गया है॥ ९ ॥

(११६) तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥ १० ॥

सूत्रार्थ— संस्कारात् = संस्कार बल से, तस्य=उस(चित्त)की, प्रशान्तवाहिता = प्रशान्तवाहिता (स्थिति) होती है।

व्याख्या— पूर्व सूत्रानुसार जब व्युत्थान के संस्कार रूप मल सर्वथा दब जाते हैं और निरोध (पर-वैराग्य) के संस्कार प्रवर्द्धित होकर बलवान् हो जाते हैं, तब उस समय चित्त में निरोध संस्कारों की बहुलता से केवल निर्मल निरोध-संस्कार धारा प्रवाहित होती रहती है अर्थात् केवल निरोध संस्कारों का प्रवाह ही गतिशील बना रहता है। यही चित्त का प्रशान्त होना एवं एक रस प्रवाहित होना हुआ। जिस प्रकार से जलती हुई लकड़ी के समापन पर अग्नि शान्त हो जाती है, वैसे ही चित्त की प्रशान्तवाहिता स्थिति होती है, यही निरुद्ध चित्त का अवस्था परिणाम है। चित्त की प्रशान्त अवस्था में निरोध संस्कारों की दृढ़ता ही सिद्धि प्रदाता है अन्यथा निरोध के संस्कारों की न्यूनता होते ही व्युत्थान के संस्कार दबा लेंगे और कैवल्य प्राप्ति की स्थिति का लाभ अत्यन्त दुरूह हो जायेगा॥ १० ॥

यहाँ इस सूत्र में चित्त के समाधि परिणाम का वर्णन किया गया है—

(११७) सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणाम: ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— सर्वार्थतैकाग्रतयो: क्षयोदयौ = सभी तरह के विषयों का चिन्तन करने की वृत्ति का शमन हो जाना तथा किसी एक ही ध्येय विषय का चिन्तन करने वाली एकाग्रता की स्थिति का उदय हो जाना-यह, चित्तस्य=चित्त का, समाधि परिणाम: = समाधि परिणाम है।

व्याख्या— जब योगी साधक का निरोध समाधि के पूर्व सम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धावस्था होती है, तब उस समय चित्त की विक्षिप्तावस्था का शमन होकर एकाग्रता की स्थिति का प्राकट्य हो जाता है। निरोध समाधि की स्थिति के पूर्व चित्त विक्षिप्तावस्था में समस्त विषय-विकारों की तरफ दौड़ता रहता है, जब कि उस समय सत्त्वगुण की प्रमुखता होती है, तब भी रजोगुण के रहने से निरोध का अभाव ही रहता है। निरोध समाधिस्थ होने पर चित्त विषय-विकार से अलग होकर एकाग्रता की अवस्था को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार धर्मी (चित्त) के विक्षिप्त एवं एकाग्रता दोनों ही धर्म हुए। जब विक्षिप्तावस्था में चित्त के संस्कार दब जाते हैं और एकाग्रता के धर्म (स्थिति) का उदय (प्राकट्य) हो जाता है, तब उसे ही सम्प्रज्ञात

समाधि काल में होने वाला समाधि परिणाम कहा गया है अर्थात् निर्वितर्क और निर्विचार सम्प्रज्ञात योग में एकमात्र ध्येय का ही ज्ञान होता है, चित्त को निजरूप तक का भी आभास नहीं रह पाता। अत: चित्त का विक्षिप्त अवस्था से एकाग्र-अवस्था में परिणत होना ही समाधि-परिणाम है॥ ११॥

चित्त की परिपक्वावस्था में एकाग्रता के परिणाम का वर्णन इस सूत्र में किया जा रहा है—

(११८) ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः॥ १२॥

सूत्रार्थ— ततः = उसके पश्चात्, पुनः = फिर जब, शान्तोदितौ = शान्त होने वाली एवं उदित होने वाली, तुल्यप्रत्ययौ = दोनों ही वृत्तियाँ एक जैसी हो जाती हैं, तब वह; चित्तस्य = चित्त का, एकाग्रतापरिणामः = एकाग्रता-परिणाम है।

व्याख्या— चित्त जब विक्षिप्तावस्था से एकाग्रता की अवस्था में प्रविष्ट होता है, तब उस समय चित्त का जो परिणाम होता है, वही उसका समाधि-परिणाम कहलाता है। चित्त जब सम्यक् रूप से समाहित हो जाता है, तब उसके पश्चात् चित्त में जो परिणाम उपस्थित होता है, उसे ही एकाग्रता परिणाम कहा जाता है। उसमें शान्त होने वाली तथा उदित होने वाली वृत्तियाँ एक जैसी ही होती हैं। पूर्व वर्णित समाधि-परिणाम में तो शान्त होने वाली एवं उदित होने वाली वृत्ति में भेद होता है; परन्तु इसमें शान्त एवं उदित होने वाली वृत्ति में भेद नहीं होता है, यही समाधि एवं एकाग्रता के परिणाम में अन्तर होता है। सम्प्रज्ञात समाधि की पहली अवस्था में समाधि-परिणाम होता है और उसकी परिपक्वावस्था में एकाग्रता-परिणाम होता है। इस एकाग्रता-परिणाम की अवधि में घटित होने वाली स्थिति को ही प्रथम (समाधि) पाद के ४७ वें सूत्र में निर्विचार-समाधि की निर्मलता के नाम से व्यक्त किया गया है॥ १२॥

इस सूत्र में चित्त के सदृश ही भूत-इन्द्रियों के परिणाम का उल्लेख किया गया है —

(११९) एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः॥ १३॥

सूत्रार्थ— एतेन = (पूर्व सूत्रों में चित्त के जो परिणाम कहे जा चुके हैं) इसी तरह से, भूतेन्द्रियेषु = पाँचों भूतों में और सब इन्द्रियों में होने वाले, धर्मलक्षणावस्था परिणामाः = धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम एवं अवस्था परिणाम (ये तीनों परिणाम), व्याख्याताः = कहे जा चुके हैं।

व्याख्या— पूर्व वर्णित नवें एवं दशवें सूत्रों में तो निरोध समाधि की अवस्था में होने वाले चित्त के धर्म परिणाम, लक्षण परिणाम एवं अवस्था परिणाम का उल्लेख किया गया है तथा एकादश एवं द्वादश सूत्रों में संप्रज्ञात-योग की अवस्था में होने वाले चित्त के धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम का उल्लेख किया गया है। ऐसे ही संसार की सम्पूर्ण वस्तुओं में ये परिणाम यथावत् होते रहते हैं; क्योंकि ये तीनों गुण परिणामी हैं, इसलिए उनके कार्यों में परिवर्तन सतत होता रहना आवश्यक है। यहाँ इस सूत्र में यही प्रतिपादित किया गया है कि उपर्युक्त वर्णन से ही पाँचों भूतों एवं सभी इन्द्रियों में होने वाले धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणामों को जानना चाहिए। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि सांख्य एवं योग के सिद्धान्त में कोई भी पदार्थ कारण रूप में हुए बिना प्रादुर्भूत हुए नहीं होता। जो कोई भी पदार्थ उत्पन्न होता है, वह उत्पन्न होने से पूर्व भी अपने कारण में विद्यमान था तथा लुप्त होने के पश्चात् भी विद्यमान है।

उदाहरणार्थ — जैसे गुँथी हुई गीली मिट्टी के गोले से घट (कुम्भ) रूप मिट्टी का परिवर्तन हो जाना धर्मी का धर्म परिणाम है, वैसे ही इन्द्रियों का धर्म परिणाम है। जैसे-नेत्र धर्मी को अपने धर्म, नील-पीत आदि में से किसी एक रूप को त्याग कर दूसरे रूप का ज्ञान होता है। लक्षण परिणाम काल-परिणाम को ही कहते हैं। यह तीन भेदों से युक्त-भविष्य,वर्तमान एवं भूत कालों से होता है। घट (कुम्भ) का

आकार प्रकट होने से पूर्व धर्मी मिट्टी में छिपा हुआ था। जब तक उत्पन्न नहीं हुआ था, तब तक भविष्य लक्षण परिणाम एवं घट निर्मित होकर वर्तमान-लक्षण परिणाम और जब टूटकर मिट्टी में मिल गया, तब अतीत लक्षण परिणाम युक्त कहा जाता है। इसे ऐसे ही धर्मी नेत्र के धर्म,नील-पीत आदि के ज्ञान प्रकट होने से पहले भविष्यत् काल में छिपा रहना उसका 'अगणित लक्षण परिणाम' कहा जाता है। भविष्यत् काल से वर्तमान काल में प्रादुर्भूत होना 'वर्तमान लक्षण परिणाम' है। पुन: वर्तमान अतीत में लक्षण परिणाम में छिप जाना ही 'अतीत लक्षण परिणाम' कहा जाता है।

अवस्था परिणाम वह है, जो वर्तमान लक्षण युक्त धर्म में नवीनता से प्राचीन (जीर्ण) अवस्था लाता है। यह प्रत्येक क्षण परिवर्तित होता है तथा वर्तमान लक्षण को त्यागकर अतीत लक्षण में गमन कर जाता है। जैसे बालक से युवक एवं युवक से प्रौढ़ हो जाना एक दिन में नहीं हो पाता, उसी प्रकार अवस्था का परिणाम हर समय होता रहता है। दसवें सूत्र में विवेचित निरोध समाधि के भंग होने तक का निरोध संस्कार, प्रत्येक क्षण दृढ़ होकर अन्त में कमजोर होते हुए प्रशान्त प्रवाही हो जाना ही उनका यह अवस्था परिणाम होता है। इसी तरह पञ्च भूतों पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु, आकाश एवं इन्द्रियों में धर्म, लक्षण, अवस्था परिणामों को समझना चाहिए॥ १३॥

यहाँ इस सूत्र में धर्म एवं धर्मी के विवेचन हेतु धर्मी के स्वरूप का वर्णन किया गया है—

(१२०) शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी॥ १४॥

सूत्रार्थ— शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती = अतीत (भूत), वर्तमान तथा आनेवाले धर्मों में जो अनुगत (व्याप्त) रहता (आधार रूप में उपस्थित रहता) है, वह; धर्मी = धर्मी है।

व्याख्या— द्रव्य में सतत उपस्थित रहने वाली विभिन्न तरह की शक्तियों का नाम धर्म है तथा उसके आधारभूत द्रव्य का नाम धर्मी है। इसका अभिप्राय यह है कि जिस कारण रूप पदार्थ से जो कुछ निर्मित हो चुका है, जो निर्मित हुआ है तथा जो निर्मित हो सकता है, वे सभी उसके धर्म हैं। इस प्रकार धर्म के तीन भेद हैं, वे एक धर्मी में विभिन्न रूपों में विद्यमान रहते हैं और अपने-अपने कारणों के प्राप्त होने पर उत्पन्न एवं शान्त होते रहते हैं। ये निम्नवत् हैं —

१. शान्त— शान्त धर्म वे हैं, जो अपना-अपना व्यापार (कर्म) करके भूतकाल में चले गये। जैसे- किसी घट (बर्तन) का छिन्न-भिन्न होकर (टूटकर) वर्तमान से अतीत धर्म में विलीन हो जाना।

२. उदित— उदित धर्म उन्हें कहा गया है, जो अनागत काल को त्यागकर वर्तमान काल में अपना कर्म कर रहे हैं, उदाहरणार्थ -घट (घड़े) मिट्टी में छिपा हुआ रूप था, जो अब वर्तमान काल में प्रकट रूप घट (घड़ा) धर्म है।

३. अव्यपदेश्य— जो अनागत भविष्यत् काल में शक्तिरूप से अवस्थित हुए व्यवहार में न लाये जा सके और न ही वह कहने में आ सके, जैसे मिट्टी में घट प्रादुर्भूत होने से पूर्व शक्ति रूप में छिपे रहते हैं, इनको ही अनागत (भविष्यत्काल) या आनेवाला अव्यपदेश्य कहा गया है।

धर्मों के इन्हीं तीनों- (शान्त, उदित और अव्यपदेश्य) प्रकार के भेदों में धर्मी सदैव अनुगत रहता है। किसी भी काल में धर्मी के अभाव में धर्म विद्यमान नहीं रहते॥ १४॥

एक ही धर्मी के पृथक्-पृथक् अनेकों धर्म परिणाम किस प्रकार से सम्पन्न होते हैं? यह अगले सूत्र में विवेचित किया जा रहा है—

(१२१) क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः॥ १५॥

सूत्रार्थ— परिणामान्यत्वे = परिणाम की भिन्नता में, क्रमान्यत्वम् = क्रम की भिन्नता, हेतुः = कारण है।

व्याख्या— एक द्रव्य के भिन्न-भिन्न क्रमों के द्वारा भिन्न-भिन्न परिणाम उत्पन्न होते हैं, इसका भाव यह है कि किसी एक द्रव्य का एक क्रम से जो परिणाम प्रकट होता है, दूसरे क्रम से उससे भिन्न दूसरा परिणाम होता है, अन्य तीसरे क्रम से तीसरा ही परिणाम होता है। जैसे कपास से यदि वस्त्र बनाना है, तो सर्वप्रथम रुई को धुनकर बिनौले अलग करना फिर पूनी बनाकर, सूत कातकर ताना-बाना करने के बाद में वस्त्र निर्मित होगा। इस क्रम के द्वारा कपास का वस्त्र रूप में परिणत हो जाना ही परिणाम है; किन्तु हमें यदि उसी रुई से दीपक के लिए बत्ती बनानी है, तो बिनौले हटाकर थोड़ा फैलाकर बट देने से बत्ती बन जायेगी। यदि कुएँ में से जल निकालने की रस्सी बनानी है, तो सूत्र को तीन गुना करके बट देने से रस्सी बन जायेगी। इस प्रकार से वस्त्र, बत्ती तथा रस्सी बनने में क्रम के भेद हुए अर्थात् क्रमभेद के द्वारा ही कपास से वस्त्र, बत्ती एवं रस्सी के परिणाम प्रकट हुए। इसी तरह से अन्य वस्तुओं में भी परिणाम भेद समझना चाहिए।

यहाँ इससे यह ज्ञात हुआ कि क्रम में परिवर्तन करने से एक ही धर्मी भिन्न-भिन्न नाम रूप वाले धर्म से सम्पन्न हो जाता है, उसके परिणाम की भिन्नता का कारण क्रम की भिन्नता ही है और दूसरा कुछ भी नहीं। क्रम की भिन्नता सहकारी कारणों के सम्बन्ध से होती है। जैसे शीत के सम्बन्ध से जल में बर्फ रूप धर्म के उत्पन्न होने का क्रम चलता है और गर्मी के सम्बन्ध से भाप बनने का क्रम शुरू हो जाता है। पूर्व में वर्णित जो धारणा, ध्यान, समाधि है, उनको किस ध्येय वस्तु में प्रकट कर लेने से उसका क्या परिणाम प्राप्त होता है? इसका वर्णन इसी पाद के समापन होने तक किया जायेगा॥ १५॥

पूर्व सूत्र में तीन तरह के परिणामों का उल्लेख किया गया है। अब इस सूत्र में सर्वप्रथम इन परिणामों में संयम करने के फल का वर्णन करते हैं—

(१२२) परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम्॥ १६॥

सूत्रार्थ— परिणामत्रयसंयमात् = (पूर्वसूत्र में विवेचित) तीनों परिणामों में संयम करने से, अतीतानागतज्ञानम् = अतीत (भूत) और अनागत (भविष्य-होनहार) का ज्ञान (हो जाता है)।

व्याख्या— पूर्व सूत्र में कहा जा चुका है कि संसार के सभी पदार्थ धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम के अन्तर्गत रहते हैं, जब योगी-साधक धर्मादि इन तीनों परिणामों को लक्ष्य में रखकर संयम (धारणादि) करता है, तब उनके सिद्ध होने पर भूत, भविष्य एवं वर्तमान तीनों काल का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जिस वर्तमान पदार्थ के सन्दर्भ में योगी-साधक जब यह जानना चाहे कि इसका मूल कारण क्या है तथा यह किस प्रकार से बदलती हुई कितने समय में वर्तमान रूप में आयी है एवं भविष्य में किस तरह बदलती हुई कितने काल में किस प्रकार अपने कारण में लीन होगी? तब ये सभी बातें उपर्युक्त तीनों परिणामों में संयम कर लेने से ज्ञात कर सकता है। जब योगी-साधक को समय से पूर्व या पश्चात् की बातों (तथ्यों) का ज्ञान हो जाता है, तब यदि किसी भी तरह की विघ्न-बाधाएँ आने वाली होती हैं, तो उनका निवारण भी वह समय रहते उचित उपाय से कर लेता है॥ १६॥

आगे के सूत्रों में ऐसी ही दूसरी अन्य विभूतियों का विवेचन किया जा रहा है—

(१२३) शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम्॥ १७॥

सूत्रार्थ— शब्दार्थप्रत्ययानाम् = शब्द, अर्थ एवं ज्ञान-इन तीनों का, इतरेतराध्यासात् = जो एक में दूसरे का अध्यास हो जाने के कारण, संकरः = मिश्रण हो रहा है, तत्प्रविभागसंयमात् =उसके विभाग में संयम करने से , सर्वभूतरुतज्ञानम् = सम्पूर्ण प्राणियों की वाणी का ज्ञान (प्राप्त हो जाता है)।

व्याख्या— शब्द का उच्चारण जिह्वा के द्वारा होता है, श्रवणरन्ध्रों के द्वारा श्रवण किया जाता है और बोलने-कहने वालों की वाणी में स्थित रहता है। अर्थ-शब्द द्वारा ज्ञात किया जाता है, जैसे-गोशाला आदि। वृत्ति अर्थात् ज्ञान जो 'शब्द गो' तथा 'अर्थ-गो' का बोध करता है; वह प्रत्यय है। अतः शब्द, अर्थ एवं ज्ञान ये तीनों पृथक्-पृथक् हैं; क्योंकि शब्द वक्ता की जिह्वा द्वारा, अर्थ गोशाला में और ज्ञान श्रवणकर्त्ता के मन में स्थित रहता है; किन्तु तीनों का आपस में अभ्यास के कारण मिश्रण हुआ रहता है अर्थात् तीनों परस्पर मिश्रित (मिले हुए) प्रतीत होते हैं। योगी-साधक को संयम (धारणादि) के अभ्यास द्वारा समाधि की प्राप्ति होती है। अतः शब्द, अर्थ एवं ज्ञान-इन तीनों विभागों में संयम करने से उसे समस्त प्राणियों की वाणी (बोली) के अर्थ का ज्ञान सहज ही प्राप्त हो जाता है अर्थात् योगी संयम के द्वारा सभी प्राणियों की वाणी को जानने व समझने की शक्ति अर्जित कर लेता है॥ १७॥

(१२४) संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥ १८॥

सूत्रार्थ— संस्कारसाक्षात्करणात् = (संयम द्वारा) संस्कारों का साक्षात् कर लेने से, पूर्वजातिज्ञानम् = पूर्वजन्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— प्राणी जो कुछ कर्म सम्पन्न करता है तथा मन-बुद्धि के सहित इन्द्रियों द्वारा जो कुछ अनुभव करता है, वे सभी संस्कार बीज रूप से अन्तःकरण में संचित होते रहते हैं। ये संस्कार दो प्रकार के कहे गये हैं, इनमें से प्रथम-वासना रूप हैं, जो स्मृति के कारण हैं तथा दूसरे धर्म-अधर्म रूप जो कि जाति, आयु एवं भोग आदि सुख-दुःख के कारण हैं। ये दोनों ही तरह के संस्कार विभिन्न जन्म-जन्मान्तरों से एकत्रित होते चले आ रहे हैं। परिणाम, चेष्टा, निरोध शक्ति, जीवन एवं धर्म की भाँति अपरिदृष्ट चित्त के लक्षण हैं। योगी को उन संस्कारों में संयम करके उनको प्रत्यक्ष कर लेने से पूर्व जन्म का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। जिस देश, काल एवं जिन कारणों के द्वारा वे संस्कार निर्मित हुए हैं, उन सबका स्मरण हो आता है। जिस प्रकार योगी साधक को अपने संस्कारों का संयम कर साक्षात् कर लेने पर अपने पूर्व जन्मों का ज्ञान होता है, उसी प्रकार दूसरे अन्य पुरुषों के संस्कारों का साक्षात्कार कर लेने से उनके पूर्व जन्मों का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है॥ १८॥

(१२५) प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥ १९॥

सूत्रार्थ— प्रत्ययस्य = संयमपूर्वक दूसरे के चित्त का साक्षात्कार कर लेने के उपरान्त ही, परचित्तज्ञानम् = दूसरे (मनुष्य) के चित्त का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या— योगी साधक को जन्म-जन्मान्तरों के विवेक-ज्ञान होने के उपरान्त ही यह शक्ति प्राप्त होती है कि वह दूसरे प्राणियों के अंग-अवयवों को देखकर संयमपूर्वक उसकी चित्त वृत्तियों को जानने का प्रयास करता है, तो उसे उस मनुष्य की चित्त वृत्ति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। उसके मन की सभी बातें योगी को ज्ञात हो जाती हैं। चित्त-वृत्ति के संयम मात्र से वृत्तियों का ज्ञान हो जाता है। प्रत्यय मात्र के संयम

द्वारा यह जानकारी नहीं हो सकती है कि चित्त किस विषय में प्रतिष्ठित है अर्थात् दूसरे का चित्त राग-द्वेष से युक्त है या उससे रहित है। श्री विज्ञान भिक्षु के मतानुसार-संयम द्वारा स्वयं अपनी ही चित्त वृत्ति का साक्षात्कार कर लेने से योगी संकल्प मात्र से दूसरे मनुष्य के चित्त का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। वह उसके चित्त के सन्दर्भ में यहाँ तक जानकारी प्राप्त कर लेता है कि यह कुछ चिंतन करने में संलग्न है या नहीं। इस अवधि में उसका चित्त प्रक्षिप्त है या मूढ़ है या पूर्णरूपेण शान्त है आदि; किन्तु विज्ञानभिक्षु के इस मत को अन्य भाष्यकारों ने नहीं माना है।

योगदर्शन में सामान्यत: चित्त की वृत्ति को अथवा ज्ञान को ही प्रत्यय नाम से प्रतिपादित किया गया है; लेकिन अन्य टीकाकारों ने इसका अर्थ चित्तवृत्ति न करके मात्र चित्त किया है। क्योंकि यहाँ सूत्र में उसके साक्षात्कार का फल चित्त का ज्ञान कहा है और आगे आने वाले सूत्र में वृत्ति सहित ज्ञान का निषेध बतलाया है। साथ ही इस सूत्र में यह भी स्पष्ट नहीं किया गया है कि किसके चित्त के साक्षात्कार का यह फल कहा गया है; परन्तु सूत्र में 'पर' शब्द आने से साक्षात्कार भी दूसरे के ही चित्त का स्वीकार किया है। वस्तुत: सूत्रकार का क्या उद्देश्य है? यह अस्पष्ट है॥ १९॥

(१२६) न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥ २०॥

सूत्रार्थ— च = किन्तु, तत् = वह ज्ञान, सालम्बनम् = आलम्बन के सहित, न = नहीं होता, तस्य अविषयीभूतत्वात् = क्योंकि (वैसा चित्त) योगी के चित्त का विषय नहीं है।

व्याख्या— योगी जब किसी के 'चित्त' का साक्षात्कार करता है, तब उसे उस व्यक्ति की केवल चित्त वृत्तियों का ही ज्ञान होता है। वे राग-द्वेष से रहित हैं अथवा युक्त हैं। उनके आलम्बन (राग-द्वेष के विषय) का ज्ञान नहीं होता। अत: कि अमुक व्यक्ति किस विषय के प्रति आसक्त है अर्थात् किस विषय में उसका राग है और किस विषय में द्वेष है , यह पता नहीं चलता; क्योंकि ये सब उसके संयम के विषय नहीं थे। संयम के द्वारा उसी विषय का साक्षात्कार होता है, जो संयम का विषय होता है; क्योंकि योगी-साधक के चित्त का विषय दूसरे अन्य मनुष्य का चित्त है, उसका आलम्बन (आश्रय) नहीं॥ २०॥

इस सूत्र से लेकर सूत्र क्र० ३३ तक संयम की अन्य दूसरी सिद्धियों का वर्णन किया गया है—

(१२७) कायरूपसंयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षु:प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥ २१॥

सूत्रार्थ— कायरूपसंयमात् = शरीर के रूप में संयम कर लेने से, तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे = जब उसकी ग्राह्यशक्ति अवरुद्ध कर ली जाती है, तब; चक्षु: प्रकाशासम्प्रयोगे = चक्षु के प्रकाश का उसके साथ सम्बन्ध न होने के कारण, अन्तर्धानम् = योगी अन्तर्धान हो जाता है।

व्याख्या— नेत्र को ग्रहण की शक्ति और रूप को ग्राह्य की शक्ति माना गया है। इन दोनों के संयोग से ही देखना होता है; यदि इन दोनों में से किसी एक की शक्ति अवरुद्ध हो जाये, तो देखने का कार्य बन्द हो जाता है। योगी-साधक संयम के द्वारा अपने शरीर की ग्राह्य शक्ति को अवरुद्ध कर लेता है। इसलिए अन्य पुरुष के नेत्र भी ग्रहण करने की शक्ति होते हुए भी योगी के शरीर का दर्शन नहीं कर सकते अर्थात् योगी को नहीं देखा जा सकता। इसे ही अन्तर्धान होना (छिपा हुआ) कहा गया है। ऐसे ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि एवं उनके ग्रहण करने की शक्ति को अवरुद्ध करने से कर्ण, त्वक्, रसना, नासिका, आदि इन्द्रियों के ज्ञान का शब्द आदि के साथ सम्पर्क न हो पाने से उनके ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती। जैसे-जब योगी शब्द में संयम कर लेता है, तब उसके शब्द को कोई भी व्यक्ति श्रवण नहीं कर सकता और यदि शरीर के स्पर्श

में संयम कर लेता है, तो उसे कोई भी स्पर्श नहीं कर सकता। ऐसे ही अन्य सिद्धियों को भी उपलक्षण के द्वारा समझ लेना चाहिए॥ २१ ॥

(१२८) सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥ २२॥

सूत्रार्थ— सोपक्रमम् = उपक्रमसहित, च = और, निरुपक्रमम् = उपक्रमरहित-ऐसे दो तरह के, कर्म = कर्म कहे गये हैं, तत्संयमात् = उनका संयम कर लेने से (योगी को), अपरान्तज्ञानम् = मृत्यु का ज्ञान हो जाता है, वा = अथवा, अरिष्टेभ्यः = अरिष्टों से भी (मृत्यु का ज्ञान हो जाता है)।

व्याख्या— मानव की आयु का निर्माण पूर्व जन्म-जन्मान्तरों के कर्मों के अनुसार होता है, वे कर्म दो तरह के कहे गये हैं। प्रथम कर्म का नाम सोपक्रम है। सोपक्रम अर्थात् स-उपक्रम, जिनके फल का शुभारम्भ हो चुका है, वे अपना फल प्रदान करने में संलग्न हैं और दूसरे कर्म का नाम निरुपक्रम है अर्थात् निः उपक्रम, जिसके फलभोग का शुभारम्भ अभी नहीं हुआ है। ये कर्म मन्द वेग वाले होते हैं। जिस प्रकार जल से भीगे हुए वस्त्र को धूप में सुखाने से वह शीघ्रतापूर्वक सूख जाता है तथा उसी गीले वस्त्र को कई पर्तों में आवृत्त कर छाया में सुखाने पर विलम्ब से सूखता है, वैसे ही तीव्र वेग वाले एवं मन्द वेग वाले दो तरह के कर्मों में संयम करके योगी इस प्रकार प्रत्यक्ष कर लेता है कि कौन से कर्म कितना फल प्रदान कर चुके तथा कितना फल शेष है और कितनी अवधि में इनके फल समाप्त हो जायेंगे? तब उस योगी को अपनी आयु की पूर्णता (मृत्यु) का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है। इसके अतिरिक्त अरिष्टों से अर्थात् बुरे चिह्नों से (जो मृत्यु के सूचक हैं, उनसे) भी आयु की पूर्णता का ज्ञान हो जाता है; किन्तु यह ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर मात्र अनुमान-ज्ञान है॥ २२ ॥

अब यहाँ इस सूत्र में चित्त-शुद्धि के द्वारा हुई सिद्धियों का वर्णन करते हैं—

(१२९) मैत्र्यादिषु बलानि॥ २३॥

सूत्रार्थ— मैत्री आदिषु = मैत्री आदि (भावनाओं) में (संयम करने पर) मैत्री आदि विषय से सम्बन्धित; बलानि = बल प्राप्त होते हैं।

व्याख्या— प्रथम (समाधि) पाद के ३३ वें सूत्र में मैत्री, करुणा एवं मुदिता- इन तीन प्रकार की भावनाओं का विवेचन किया गया है; किन्तु चौथी जो भावना उपेक्षा के नाम से कही गई है, वह भावना नहीं है, वरन् वह भावना का त्याग है।

इन चारों में से प्रथम यह कि जो मनुष्यों में मैत्री की भावना है, इसमें संयम करने से योगी को मित्रता-बल प्राप्त होता है। इससे वह सुखी मानव में मैत्री का संयम करके सभी का मित्र बनकर उन सभी को सुख देने की सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। द्वितीय, दुःखी मनुष्यों में करुणा की भावना का संयम करके करुणा-बल की प्राप्ति कर लेता है। इसकी प्राप्ति से योगी प्रत्येक प्राणी के दुःखों का शमन कर सकता है। तृतीय, मुदिता की भावना का संयम करने से आनन्द-बल की प्राप्ति हो जाती है, इससे योगी समस्त प्राणियों को आनन्द प्रदान कर सकता है। चतुर्थ उपेक्षा (पापियों के प्रति उदासीनता) में संयम का अभाव होने से उपेक्षा को कोई बल प्राप्त नहीं होता, इसका कारण यह है कि वह भावना रहित पदार्थ है। अतः इसकी गणना प्रस्तुत सूत्र में नहीं की गई है॥ २३ ॥

(१३०) बलेषु हस्तिबलादीनि॥ २४॥

सूत्रार्थ— बलेषु = (भिन्न-भिन्न) बलों में (संयम करने से), हस्तिबलादीनि = हाथी आदि के बल के सदृश (संयमानुसार अलग-अलग तरह के) बल की प्राप्ति होती है।

व्याख्या— योगी-साधक यदि हाथी के बल में संयम की साधना करता है, तो वह उस हाथी के सदृश बल प्राप्त कर लेता है। यदि वह गरुड़ के बल में संयम करता है, तो उसे गरुड़ के सदृश ही बल मिल जाता है और यदि वह वायु के बल में संयम की साधना करता है, तो उसे वायु की भाँति ही बल की सिद्धि मिल जाती है। ऐसे ही वह योगी जिस-जिस के बल में संयम करता है, उसे वैसा-वैसा ही बल मिल जाता है॥ २४॥

(१३१) प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम्॥ २५॥

सूत्रार्थ— प्रवृत्त्या लोकन्यासात् = ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का प्रकाश डालने से , सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् = सूक्ष्म व्यवधानयुक्त एवं दूर-देश में अवस्थित वस्तुओं-पदार्थों का ज्ञान (प्राप्त हो जाता है)।

व्याख्या— सामान्यतया इन्द्रियों द्वारा तीन प्रकार की वस्तुओं-पदार्थों का साक्षात्कार (ज्ञान) नहीं हो पाता। उनमें से प्रथम तो वह जो वस्तु या पदार्थ अत्यधिक सूक्ष्म होते हैं, जैसे-परमाणु, महत्तत्त्व, आत्मा, प्रकृति आदि। दूसरी वस्तु का नाम व्यवहित -जो आवरणयुक्त हो अर्थात् किसी परदे के अन्दर छिपी हो, जैसे-भूमि में गड़ा हुआ धन, समुद्र में रत्न, खान में स्वर्ण, मणि-माणिक्य आदि। तृतीय वस्तु का नाम विप्रकृष्ट अर्थात् जो वस्तु या पदार्थ अन्य दूर-देश में स्थित हो, जैसे- हम धरातल में हों और वस्तु ऊँचे पहाड़ों पर स्थित हो या यों कहें हम भारत के उत्तरी क्षेत्र में हों और वस्तु या पदार्थ भारत के दक्षिणी क्षेत्र में स्थित हो। इन सभी में से किसी भी वस्तु-पदार्थ की जानकारी हेतु जब योगी- साधक प्रथम (समाधि) पाद के ३६ वें एवं ४७ वें सूत्र में तथा इस विभूति पाद के पञ्चम सूत्र में विवेचित ज्योतिष्मती अर्थात् प्रकाशमान प्रवृत्ति के प्रकाश में संयम करता है, तो तत्क्षण उसे उस वस्तु या पदार्थ का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान हो जाता है अर्थात् योगी अपने संयम बल से बैठे-बैठे ही देख लेता है। जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश से सभी वस्तुएँ प्रकाशित होने लगती हैं, वैसे ही योगी-साधक अपने संयम के बल से सूक्ष्मातिसूक्ष्म, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट वस्तुओं को जान लेता है॥ २५॥

(१३२) भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ २६॥

सूत्रार्थ— सूर्ये = सूर्य में, संयमात् = संयम करने से, भुवनज्ञानम् = सभी भुवनों-लोकों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— सर्वत्र निरन्तर अपने प्रकाश से प्रकाशित होने एवं प्रकाश (प्राणतत्त्व) प्रदान करने वाले सूर्य में जो योगी साधक अपनी साधना द्वारा संयम कर लेता है, उस योगी को समस्त चौदह भुवनों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है। पुराणों में चौदह भुवनों का उल्लेख मिलता है। व्यासभाष्य एवं पातञ्जल योगप्रदीप में इन लोकों का विस्तार से वर्णन किया गया है। ये चौदह भुवन निम्न हैं। पृथिवी एवं इससे ऊपर के छ:लोक इस प्रकार हैं- १. भू: २. भुव: ३. स्व: ४. मह: ५. जन: ६. तप: एवं ७. सत्यलोक। पृथिवी से नीचे के ७ लोक — ८. अतल ९. वितल १०. सुतल ११. रसातल १२. तलातल १३. महातल एवं १४. पाताल— इस प्रकार ये कुल चौदह भुवन हुए। इन समस्त भुवनों के अन्तर्गत संन्निवेशों से युक्त जितने भी स्थल हैं, उन-उन सभी स्थलों का ज्ञान योगी को सूर्य में संयम करने से प्राप्त हो जाता है। यह साक्षात्कार दीर्घकालीन नियमित पूर्ण अभ्यास से ही हो सकता है। वाचस्पति मिश्र के अनुसार-सूर्यद्वार को सुषुम्ना नाड़ी मानकर सुषुम्ना नाड़ी में संयम करके सभी भुवनों का साक्षात्कार किया जा सकता है।

व्यास भाष्य में भुवनों का विस्तृत विवेचन किया गया है। यहाँ सूर्य का अर्थ सूर्यद्वार किया गया है। इस

पर सभी भाष्यकार एक मत हैं। चन्द्रमा एवं ध्रुव (३/२७-२८ सूत्रों में) देखने से सूर्य का अर्थ सामान्य सूर्य प्रतीत हो सकता है; किन्तु ऐसा नहीं है। सूर्यद्वार का निश्चय करने के लिए सर्वप्रथम सुषुम्ना का निश्चय योगी को करना चाहिए। श्रुति के अनुसार-'**तत्र श्वेतः सुषुम्ना ब्रह्मयान**': अर्थात् हृदय से ऊर्ध्वगत श्वेत कांतिमय सुषुम्ना नाड़ी है। '**सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा**' (मुण्डक० १/२/११) के अनुसार-वे सूर्यद्वार से अव्यय आत्मा में पहुँचते हैं। अतः हृदय आत्मा एवं शरीर का संधिस्थल है। यहाँ इसका भाव यह है कि शरीर का सबसे प्रकाशित अंश हृदय ही है। इसी में सूर्य का संयम करने से पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है। उपर्युक्त सूत्र ३/२५ में आलम्बन के रूप में सत्त्वगुण विशिष्ट प्रकाश का (ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का) उल्लेख किया गया है; किन्तु यहाँ पर तो भौतिक प्रकाश में संयम का वर्णन किया गया है। यह तो मात्र विशेषता भेद है॥ २६॥

इस सूत्र में प्रकाश के सन्दर्भ में संयम करने से मिलने वाली अन्य दूसरी सिद्धि का वर्णन किया जा रहा है —

(१३३) चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्॥ २७॥

सूत्रार्थ— चन्द्रे = चन्द्रमा में(संयम करने से), ताराव्यूहज्ञानम् = सभी तारों के व्यूह (स्थिति-विशेष) का ज्ञान हो जाता है।

व्याख्या— जब योगी साधक दीर्घकाल से नियमित अभ्यासपूर्वक चन्द्रमा में संयम कर लेता है, तब उसे कौन-सा तारा किस स्थिति विशेष में किस स्थल में अवस्थित है तथा नक्षत्रों के व्यूह एवं विशिष्ट संन्निवेश आदि की क्या स्थिति है? इसका यथावत् सम्यक् रूपेण ज्ञान हो जाता है।

यहाँ प्रायः यह संशय होता है कि जब पूर्वसूत्र ३/२६ में यह कहा गया है कि सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनों का ज्ञान हो जाता है, तो फिर चन्द्र संयम का उल्लेख क्यों किया गया? यहाँ इसका आशय यह है कि सूर्य के आलोक में नक्षत्रों का आलोक मलिन होने से स्पष्टतया जानकारी नहीं मिलती। अतः चन्द्र-संयम के द्वारा ही नक्षत्रों की स्थिति का ज्ञान योगी को प्राप्त होता है। ज्योतिष गणना के अनुसार चन्द्रमा शीघ्र गमनशील होने के कारण अपने चान्द्र-मास में द्वादश राशियों में क्रमशः गमन करता है। एक वर्ष में पृथ्वी के बारह चक्कर सम्पन्न कर लेता है। प्रत्येक नक्षत्र की राशि के साथ चन्द्रमा की आकर्षण-विकर्षण शक्ति होने के कारण नक्षत्रों की स्थिति का ज्ञान चन्द्रमा में संयम करने से ही प्राप्त होता है॥ २७॥

(१३४) ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥ २८॥

सूत्रार्थ— ध्रुवे = निश्चल, स्थिर ध्रुव नक्षत्र में (संयम करने से), तद्गतिज्ञानम् = उन नक्षत्रों की गति का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— ध्रुव तारा सभी तारागणों में प्रमुख, निश्चल, गतिरहित तथा सभी नक्षत्रों की गतिशीलता से उसका सम्बन्ध यथावत् बना रहता है। इसलिए योगी-साधक को ध्रुव तारे में संयम करके समस्त तारागणों की गति का यथार्थ ज्ञान अर्थात् कौन, कितने काल में, किस राशि एवं नक्षत्र पर गमन करेगा, इसका पूर्णरूपेण ज्ञान प्राप्त हो जाता है॥ २८॥

बाह्य सिद्धियों के विश्लेषण के पश्चात् अब अन्तः की सिद्धियों का उल्लेख करते हैं—

(१३५) नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥ २९॥

सूत्रार्थ— नाभिचक्रे = नाभिचक्र में संयम करने पर, कायव्यूहज्ञानम् = शरीर के व्यूह (उसकी स्थिति) का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— नाभिचक्र शरीर के मध्य में पिण्ड के आकार सदृश मांस का गोला है। उसे ही नाड़ियों का केन्द्र कहा गया है। शरीर की समस्त नस-नाड़ियाँ इस केन्द्र से गुँथी हुई हैं। इस नाभिचक्र में संयम करने से शरीर के व्यूह (शारीरिक संरचना) का सम्पूर्ण ज्ञान योगी को प्राप्त हो जाता है। शरीर की संरचना किस तरह हुई? शरीर में स्थित वात, पित्त, कफ तीनों दोष और त्वक्, रक्त, मांस, नाड़ी, हड्डी, चर्बी, वीर्य आदि सप्त धातुएँ किस प्रकार कहाँ प्रतिष्ठित हैं? इन सभी का नस-नाड़ियों के सहित सम्यक् रूपेण ज्ञान योगी साधक को प्राप्त हो जाता है॥ २९॥

(१३६) कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥

सूत्रार्थ— कण्ठकूपे = कण्ठकूप में (संयम करने से), क्षुत्पिपासानिवृत्तिः = भूख एवं प्यास का निवारण हो जाता है।

व्याख्या— जिह्वा के अधोभाग में एक नस-तन्तु है, जिसे जिह्वामूल कहा जाता है। उस (तन्तु) के नीचे कण्ठ स्थित है तथा उस (कण्ठ) के नीचे कूप (गड्ढा) स्थित है। उस (कण्ठकूप) में प्राणवायु का स्पर्श होना ही क्षुधा-पिपासा (भूख-प्यास) का मुख्य कारण कहा गया है अर्थात् कण्ठकूप से प्राणवायु के टकराने (स्पर्श करने) से भूख-प्यास की अनुभूति होती है। कण्ठकूप में संयम करने पर योगी को भूख-प्यास की बाधा नहीं सताती। वह उस बाधा को संयमपूर्वक रहकर पार कर लेता है अर्थात् कण्ठकूप में संयम हो जाने पर भूख-प्यास की बाधा समाप्त हो जाती है॥ ३०॥

(१३७) कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥ ३१ ॥

सूत्रार्थ— कूर्मनाड्याम् = कूर्म-कच्छप आकार नाड़ी में (संयम करने से), स्थैर्यम् = स्थिरता प्राप्त होती है।

व्याख्या— कण्ठकूप के नीचे वक्षस्थल में कच्छप आकार के सदृश नाड़ी स्थित है, इसे ही कूर्म नाड़ी कहा जाता है। योगी-साधक इसी नाड़ी में संयम करके सर्प एवं गोह की भाँति ज्ञान से शून्य जड़ की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। उसे स्थिर स्थिति प्राप्ति हो जाती है अर्थात् वह चित्त एवं देह दोनों में ही स्थिरता प्राप्त कर लेता हैं॥ ३१॥

(१३८) मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥ ३२ ॥

सूत्रार्थ— मूर्धज्योतिषि = मूर्धा स्थित ज्योति में (संयम करने से); सिद्धदर्शनम् = सिद्धपुरुषों के दर्शन होते हैं।

व्याख्या— शिर-कपाल के अन्दर एक छिद्र स्थित है। इसे ही ब्रह्मरन्ध्र कहते हैं। इसमें प्रकाशमयी ज्योति का भी निवास रहता है। सुषुम्ना नाड़ी का निवास स्थल भी इसी स्थान को बतलाया गया है। इस संस्थान में संयम करने पर योगी को द्यौः एवं पृथिवी लोक के मध्य में विचरने वाले दिव्य पुरुषों के दर्शन प्राप्त होने लगते हैं, जो कि सामान्य जनों को प्रायः नहीं दिखलाई देते। योगीजन ध्यान की चरमावस्था में उन दिव्य पुरुषों से वार्त्तालाप किया करते हैं॥ ३२॥

(१३९) प्रातिभाद्वा सर्वम्॥ ३३ ॥

सूत्रार्थ— वा = अथवा, प्रातिभात् = प्रातिभ नामक ज्ञान उत्पन्न होने से (बिना किसी भी तरह के संयम के ही), सर्वम् = (योगी को भूत-वर्तमान एवं भविष्यत् काल की कही हुई) सभी सिद्धियों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

व्याख्या— इसी पाद के ३६ वें सूत्र में प्रातिभ ज्ञान का वर्णन किया गया है। यह विवेक सम्मत ज्ञान का पूर्णरूप है। इस प्रतिभा में संयम करने पर विवेक ख्याति से पूर्व प्रादुर्भूत होने वाला तारक अर्थात् सभी दु:खों, क्लेशों से पार करने वाला, मुक्ति प्रदाता प्रातिभ नाम का ज्ञान प्रकट होता है। इसके प्रकट होने पर योगी-साधक को बिना संयम के ही संसार की समस्त वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। इससे पूर्व एवं पश्चात् जो-जो संयम कहे गये हैं अथवा कहे जायेंगे, उन सभी से जो सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं तथा जिन-जिन विषयों का ज्ञान प्राप्त होता है, वह सभी तरह का ज्ञान प्रातिभ-ज्ञान से हो जाता है। प्रातिभ-ज्ञान प्राप्ति के लिए किसी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं होती। वह स्वत: अन्तस् से प्रादुर्भूत होता है। इसके लिए पुस्तकीय ज्ञान की जरूरत नहीं होती। जिस प्रकार उदित होते हुए सूर्य से पूर्व प्रभा उद्‌भूत होती है और उस प्रभा से मनुष्य सभी वस्तुओं को देख लेता है, उसी प्रकार विवेकख्याति, प्रातिभज्ञान के उत्पन्न होने से योगी-साधक समस्त सिद्धियों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है॥ ३३॥

(१४०) हृदये चित्तसंवित्॥ ३४॥

सूत्रार्थ— हृदये = हृदय में (संयम करने से), चित्तसंवित् = स्व एवं पर पुरुष के चित्त के स्वरूप का ज्ञान भली-भाँति हो जाता है।

व्याख्या— यह ब्रह्मपुर नामक हृदय शरीर का एक विशेष अंग है। इस हृदय प्रदेश में गर्त (गड्‌ढे) के आकार सदृश नीचे की ओर मुख किये हुए कमल के अन्दर सत्त्वगुणयुक्त अन्त:करण चित्त का स्थल है। उस हृदय प्रदेश में संयम करने वाले योगी-साधक को स्वकीय चित्त एवं परकीय चित्त का ज्ञान प्रादुर्भूत हो जाता है। योगी समस्त वासनाओं एवं दूसरे पुरुषों के चित्त में उपस्थित राग-द्वेषादि भावनाओं की भी जानकारी प्राप्त कर लेता है॥ ३४॥

चित्त के स्वरूप का ज्ञान होने से जैसे ही विवेक होता है, वैसे ही पुरुष के स्वरूप का बोध हो जाता है। इसी तथ्य का विवेचन इस सूत्र में किया जा रहा है —

(१४१) सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयो: प्रत्ययाविशेषो भोग: परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्॥ ३५॥

सूत्रार्थ— सत्त्वपुरुषयो: अत्यन्तासंकीर्णयो: = सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष जो कि दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं (किसी भी तरह से सम्मिलित होने वाले नहीं हैं)- इन दोनों की; प्रत्ययाविशेष: = जो प्रतीति का अभेद है, वही; भोग: = भोग है, (उसमें से); परार्थात् स्वार्थसंयमात् = परार्थ-प्रतीति से भिन्न जो स्वार्थ-प्रतीति है, उसमें संयम करने से; पुरुषज्ञानम् = पुरुष का ज्ञान होता है।

व्याख्या— बुद्धि अथवा चित्त परिणामी, जड़, भोग्य एवं चंचल है और पुरुष अपरिणामी, चेतन, भोक्ता एवं संगरहित है। ये दोनों परस्पर पृथक्-पृथक् हैं, इनका आपस में कोई मेल नहीं है। फिर भी जड़ चित्त में चैतन्य पुरुष से प्रतिबिम्बित होकर जो सुख-दु:ख आदि वृत्तियों का प्रादुर्भाव होता है, वह वृत्ति अविशेष हैं; क्योंकि इसके द्वारा चित्त के धर्म —सुख-दु:ख एवं मोह आदि चित्त में प्रतिबिम्बित चैतन्य पुरुष में अध्यारोपित होते हैं। यह अभेद प्रतीति ही भोग हैं अर्थात् सुख-दु:ख का भोग चित्त को प्राप्त होता है, पुरुष अज्ञानता के कारण अपने को सुखी-दु:खी मानता है। ऐसा मानना ही भोग है। जिस तरह शुद्ध जल की हिलोरों में चाँद की प्रतिच्छाया हिलती-डुलती दृष्टिगोचर होती है। यर्थाथत: चाँद नहीं हिलता-डुलता, वह स्थिर है। वैसे ही भोग चित्त का परिणाम होने के कारण चित्त में ही होता है; किन्तु प्रतिच्छाया से विकार रहित पुरुष में सुख-दु:ख आदि का आरोप रूप भोग है। पुरुष (आत्मा) आरोपित भोग वाला होने से भोक्ता

कहा जाता है। ऐसा चित्त का परिणाम प्रत्यय स्वरूप भोग, जड़ होने से पदार्थ है एवं भोग्य है। इस पदार्थ जड़ भोग से पृथक् पुरुष (आत्मा) की प्रतिच्छाया रूप प्रत्यय है। उसे ही स्वार्थ कहा जाता है। इस स्वार्थ प्रत्यय में संयम करने से पुरुष का ज्ञान (आत्मज्ञान) होता है। वस्तुत: ज्ञान बुद्धि का धर्म है, अत: उस बुद्धि के धर्मरूप ज्ञान से पुरुष नहीं जाना जा सकता है; लेकिन बुद्धि में जो पुरुष का चेतन रूप प्रतिबिम्बित होता है, उसे दर्पण में अपना मुख अवलोकन करने की तरह ही पुरुष देखता है। इसी प्रकार के संयम से योगी-साधक को पुरुष का ज्ञान अर्थात् आत्म-साक्षात्कार होता है॥ ३५॥

उपर्युक्त सूत्र में वर्णित संयम से पुरुष (आत्मा) का ज्ञान होने से पूर्व जो भी सिद्धियाँ योगी-साधक के समक्ष आती हैं, उनका विवेचन इस सूत्र में किया जा रहा है—

(१४२) ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३६॥

सूत्रार्थ— ततः = उस (स्वार्थ-संयम) से, प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शास्वादवार्ताः = प्रातिभ, श्रावण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वार्ता-ये (छः सिद्धियाँ), जायन्ते = प्रकट होती हैं।

व्याख्या— ये छः सिद्धियाँ समाधि के साधन में लगे हुए योगी-साधक को पुरुष (आत्म) ज्ञान के पूर्व प्राप्त हो जाती हैं। एकमात्र इन्हीं सिद्धियों को प्राप्त करके योगी साधक को विश्राम नहीं कर लेना चाहिए, वरन् आत्मज्ञान-पूर्ण साक्षात्कार करना चाहिए। इन छहों सिद्धियों के लक्षण इस प्रकार कहे गये हैं-

१. प्रातिभ— इसका उल्लेख इसी पाद के ३३ वें सूत्र में किया गया है। इसके ज्ञान से भूत, वर्तमान एवं भविष्यत्, सूक्ष्मातिसूक्ष्म, आवृत (ढँकी हुई) तथा दूर-देश में स्थित वस्तुओं-पदार्थों की जानकारी स्पष्टतया हो जाती है।

२. श्रावण— इस सिद्धि के प्राप्त होने पर दिव्य शब्द श्रवण की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

३. वेदन— इस सिद्धि के द्वारा दिव्य स्पर्श का अनुभव करने की शक्ति आ जाती है।

४. आदर्श—इस सिद्धि से दिव्य रूप का दर्शन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

५. आस्वाद— इस सिद्धि से दिव्यरस का अनुभव करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

६. वार्त्ता— इस सिद्धि के द्वारा दिव्य गन्ध का अनुभव करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है॥ ३६॥

इस सूत्र में इन सिद्धियों में वैराग्य के लिए अर्थात् त्याग करने के लिए कहा गया है; क्योंकि ये उसके साधन में विघ्न प्रदान करने वाली कही गई हैं —

(१४३) ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥ ३७॥

सूत्रार्थ— ते = वे (उपर्युक्त छः प्रकार की सिद्धियाँ), समाधौ = समाधि की सिद्धि में (पुरुष को ज्ञान प्राप्त करने में), उपसर्गाः = विघ्न हैं (तथा), व्युत्थाने = व्युत्थान में, सिद्धयः = सिद्धियाँ हैं।

व्याख्या— उपर्युक्त सूत्र में वर्णित छहों सिद्धियाँ योगी-साधक को समाधि अवस्था को प्राप्त करने अर्थात् पुरुष (आत्म) ज्ञान की प्राप्ति में विघ्न स्वरूपा कही गई हैं। ये सिद्धियाँ यदि योगी के समक्ष आयें, तो उसे इनका परित्याग कर देना चाहिए; क्योंकि इन सिद्धियों से हर्ष, गौरव प्राप्त हो जाने में योगी में शिथिलता आ जाने की संभावना बनी रहती है। जिस मनुष्य का चित्त चंचल है, जो साधक स्तर का नहीं है तथा जो समाधि अथवा आत्मिक उन्नति की जरूरत नहीं समझता है, ऐसे सामान्य मनुष्य को किसी कारणवश ऐसा सुयोग प्राप्त हो जाये, तो उसके लिए अवश्य ही ये सिद्धियाँ हैं। ये व्युत्थान की अवस्था में सिद्धियाँ हैं। जिस प्रकार सामान्य मनुष्य थोड़ा-सा द्रव्य पाकर ही संतुष्ट हो जाता है। वैसे ही विक्षिप्त चित्त वाले मनुष्यों को आत्मज्ञान से पूर्व होने वाली ये सिद्धियाँ हर्ष प्रदात्री होती हैं॥ ३७॥

सूत्र क्र० ३७ तक विभिन्न तरह के संयमों से जो अलग-अलग ज्ञान प्राप्त होते हैं, उनका वर्णन पुरुष (आत्मा) के ज्ञान प्राप्ति तक किया गया। आगे के सूत्रों में अलग-अलग संयमों से जो अलग-अलग तरह की क्रिया शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, अब यहाँ से उन (शक्तियों) का विवेचन किया जा रहा हैं —

(१४४) बन्धकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥

सूत्रार्थ— बन्धकारणशैथिल्यात् = बन्धन के कारण (कर्म) की शिथिलता से, च = और, प्रचारसंवेदनात् = चित्त की गति का भलीभाँति ज्ञान होने से, चित्तस्य = चित्त का , परशरीरावेशः = दूसरे के शरीर में प्रवेश (किया जा सकता है)।

व्याख्या— मन को मर्कट के सदृश चञ्चल कहा गया है। उसका देह में स्थित रहने का कारण सकाम कर्म एवं उसकी वासनाएँ हैं अर्थात् सकाम कर्मों के फल भोगने के लिए ही यह चित्त किसी एक शरीर में आबद्ध रहने के लिए प्रतिबन्धित हो जाता है! जब योगी- साधक धारणादि समाधि के अभ्यास द्वारा सकाम कर्मों का त्याग कर कामना रहित कर्म करता है, तब सकाम कर्मों का त्याग करने से समस्त बन्धन शिथिल हो जाते हैं तथा इसके साथ ही जिन मार्गों द्वारा चित्त शरीर में विचरण करता है। वह उन मार्गों को तथा चित्त की गति को भली-भाँति जान लेता है, तभी उसमें इस शक्ति का आगमन हो जाता है। शक्ति के द्वारा वह अपने शरीर से चित्त अर्थात् सूक्ष्म शरीर को अलग करके अन्य किसी दूसरे (मृत या जीवित) शरीर में प्रविष्ट कर सकता है। चित्त के साथ-साथ इन्द्रियाँ भी, जहाँ चित्त गमन करता है; वहाँ स्वयमेव चली जाती हैं। यह स्थिति ठीक वैसी ही होती है, जैसे रानी मधुमक्खी के उड़ जाने पर अन्य सभी मक्खियाँ उड़ जाती हैं॥ ३८॥

(१४५) उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्गउत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥

सूत्रार्थ— उदानजयात् = उदान वायु को जीत लेने से, जलपङ्ककण्टकादिषु = जल, कीचड़, कण्टक आदि से, असङ्ग = उसके शरीर का संयोग नहीं होता, च = और, उत्क्रान्तिः = ऊर्ध्वगति भी होती है।

व्याख्या— शरीर में स्थित अपनी समस्त इन्द्रियों को गमनागमन द्वारा स्थिर रखने वाला तथा जीवन का एकमात्र प्रमुख आधार प्राणवायु है। क्रियाभेद से उसके पाँच नाम इस प्रकार बतलाये गये हैं- १. प्राण २. अपान ३. समान ४. व्यान ५. उदान। इन पञ्च प्राणों के लक्षण क्रमशः इस प्रकार हैं —

१. प्राण— यह सभी प्राणों में प्रमुख है तथा मुख एवं नासिका के द्वारा इसकी गति होती है। यह नासिका के अग्रभाग से लेकर हृदय पर्यन्त शरीर में विचरण करता है। इसकी गति नासिका से हृदय तक ही होती है।

२. अपान— यह अधोगामी है। इसके वेग से मल,मूत्र एवं गर्भ आदि निःसृत होते हैं। यह नाभि से लेकर पैरों के तलुओं तक संव्याप्त रहता है।

३. समान— 'समानवायु' का क्षेत्र हृदय से लेकर नाभिपर्यन्त कहा गया है। इसकी गति सम है। खाने-पीने के रस को सम्पूर्ण शरीर के सभी अंगों में आवश्यकता अनुसार पहुँचा देना ही इसका कार्य है।

४. व्यान— यह वायु शरीर के सभी अंगों में संव्याप्त होकर समस्त नस-नाड़ियों में विचरण करता रहता है।

५. उदान— यह वायु ऊर्ध्वगामी है। इसका निवास स्थल कण्ठ है तथा कण्ठ से सिर तक इसे गमन करने वाला कहा गया है। मृत्यु काल में इसी (उदान) का अवलम्बन प्राप्त कर प्राणी के सूक्ष्मशरीर का गमन होता है। इसकी विवेचना प्रश्नोपनिषद् के (३/५-७) में विस्तार से की गई है।

जब योगी धारणादि के द्वारा संयमपूर्वक 'उदानवायु' को सिद्ध कर लेता है, तब उसका शरीर रुई की भाँति हलका हो जाता है। इस कारण पानी एवं कीचड़ में गमन करते हुए भी उसके पैर नही फँसते। काँटे आदि भी हलके होने के कारण नहीं लगते। मृत्यु-काल में उसके प्राण ब्रह्मरन्ध्र (सिर के छिद्र) से उत्क्रमण करते हैं। योगी स्वेच्छापूर्वक ही शरीर से प्राणों का त्याग करता है। कठ० २/३/१६ में भी ऊर्ध्वगति का वर्णन विस्तार से किया गया है॥ ३९ ॥

(१४६) समानजयाज्ज्वलनम्॥ ४० ॥

सूत्रार्थ— समानजयात् =(संयम द्वारा) समान वायु को जय कर लेने से, ज्वलनम् =(योगी का शरीर) दीप्तिमान् हो जाता है।

व्याख्या— जब योगी-साधक धारणादि के संयम के द्वारा उपर्युक्त 'समानवायु' को जीत लेता है, तब उस योगी का शरीर जाज्वल्यमान अग्नि की भाँति प्रज्वलित अर्थात् अत्यधिक कांतियुक्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि इन दोनों-जठराग्नि एवं समानवायु का निकटतम सम्बन्ध है। अतः 'समान' प्राण का जय कर लेने के उपरान्त योगी-साधक अपने शरीर में रहने वाली जठराग्नि के आवरण को अलग करके अग्नि की भाँति दीप्तिमान् (कान्तियुक्त) हो जाता है॥ ४० ॥

इससे पूर्व छत्तीसवें सूत्र में जो छः प्रकार की सिद्धियाँ कही गई हैं, उन्हीं में से श्रावण नामक सिद्धि का साधन इस सूत्र में विस्तार पूर्वक कहा गया है —

(१४७) श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम्॥ ४१ ॥

सूत्रार्थ— श्रोत्राकाशयोः = श्रोत्र (कान) और आकाश के, सम्बन्धसंयमात् = सम्बन्ध में संयम कर लेने से (योगी के), श्रोत्रम् = श्रोत्र, दिव्यम् = दिव्य हो जाते हैं।

व्याख्या— शब्द शक्ति को स्वीकारने वाली श्रोत्रेन्द्रिय का प्रादुर्भाव अहंकार द्वारा हुआ तथा आकाश का उद्‌भव अहंकार जनित शब्द 'तन्मात्र' से हुआ है। इस कारण आकाश, शब्द एवं श्रोत्रेन्द्रिय- इन तीनों का एकीकरण हुआ। इस प्रकार से जब श्रोत्रेन्द्रिय एवं आकाश के सम्बन्ध को योगी संयम के द्वारा सिद्ध कर लेता है, तब उसकी कर्णेन्द्रिय में दिव्य शक्ति का आगमन हो जाता है। तदनन्तर योगी सूक्ष्मातिसूक्ष्म शब्दों-तरंगों का श्रवण एवं बोध कर सकता है और किसी आवृत (वस्त्र आदि से ढँके हुए) किये हुए शब्द को भी सुन लेता है। जो शब्द यदि कहीं दूर-देश में बोला जाए, तो योगी उसे भी श्रवण कर सकता है; क्योंकि आकाश सर्वत्र संव्याप्त है, अतः उसके गर्भ में कहीं भी होने वाला शब्द तत्क्षण ही सर्वत्र संव्याप्त हो जाता है। अस्तु जिसकी श्रोत्रेन्द्रिय दिव्य हो जाती है, वह (योगी) चाहे जिस किसी भी शब्द को, जहाँ कहीं पर भी हो, वहीं श्रवण कर सकता है। इसी प्रकार से त्वक्-वायु, नेत्र-तेज, रसना-जल (रस), गन्ध-पृथ्वी के सम्बन्ध में संयम कर लेने पर दिव्य त्वक्, दिव्य-नेत्र, दिव्य-रसना एवं दिव्य- घ्राण की सिद्धि मिल जाती है। इन सभी सिद्धियों का उल्लेख इसी पाद के ३६ वें सूत्र में किया गया है॥ ४१ ॥

(१४८) कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥ ४२ ॥

सूत्रार्थ— कायाकाशयोः = शरीर एवं आकाश के, सम्बन्धसंयमात् = सम्बन्ध में संयम करने से, च = और, लघुतूलसमापत्तेः = हलकीवस्तु (रुई-आदि) में संयम करने से, आकाशगमनम् =आकाश में गमन करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या— आकाश शरीर को अवकाश (रिक्त स्थान) प्रदान करता है एवं जहाँ शरीर रहता है, वहाँ

आकाश होता है। इसलिए शरीर एवं आकाश का जो सम्बन्ध है, उसको संयम के द्वारा पूर्णरूपेण प्रत्यक्ष कर लेने के पश्चात् योगी-साधक इस तत्त्व को अच्छी तरह से जान लेता है कि शरीर के अंग किस तरह से सूक्ष्म से स्थूल में परिणत होते हैं और किस तरह पुन: स्थूल से सूक्ष्म की स्थिति में हो सकते हैं। अत: योगी इस संयम को सिद्ध करके अपने शरीर को अत्यधिक सूक्ष्म (हलका) करके आकाश मार्ग में गमन कर सकने की सामर्थ्य विकसित कर सकता है। ऐसे ही जब योगी किसी भी सूक्ष्म (हलकी धुनी हुई रुई अथवा बादल आदि) वस्तु में संयम करके तदनुरूप हो जाता है, तब उस संयम के द्वारा भी उसे आकाश मार्ग एवं जल मार्ग आदि में इच्छानुसार गमनागमन की शक्ति प्राप्त हो जाती है॥ ४२॥

इस सूत्र में ज्ञान के आवरण का शमन जिस विधि से हो सकता है, उसका वर्णन किया जा रहा है—

(१४९) बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः॥ ४३॥

सूत्रार्थ— बहिरकल्पिता = शरीर के बाहर अकल्पित, वृत्तिः = स्थिति का नाम, महाविदेहा = महाविदेहा है, ततः = उस, प्रकाशावरणक्षयः = बुद्धि की ज्ञानशक्ति के आवरण का क्षय हो जाता है।

व्याख्या— शरीर के बाहर जो स्थिति मन की होती है, उसे ही विदेह -धारणा कहते हैं। यह दो प्रकार की कही गई है-१. कल्पित एवं २. अकल्पित। जो मन के शरीर में रहते हुए केवल भावनामात्र से होती है, वह कल्पित-विदेहा कहलाती है और दूसरी जो अशरीरी अर्थात् शरीर से बाहर मन की स्थिति हो जाती है, उसे अकल्पित-विदेहा कहा जाता है। कल्पित धारणा के अभ्यास द्वारा ही अकल्पित धारणा सिद्ध होती है। इसे ही महाविदेहा कहते हैं। इसके सिद्ध हो जाने से योगी दूसरे के शरीर में प्रवेश कर सकता है और अन्य विभिन्न लोकों में सूक्ष्म शरीर द्वारा भ्रमण कर सकता है। इस सिद्धि के द्वारा योगी के ज्ञान पर चढ़ा आवरण नष्ट हो जाता है। यह धारणा इन्द्रिय एवं मन की स्वरूपावस्था में संयम करने से प्राप्त होती है। इसके दीर्घकालीन अभ्यास से चित्त के प्रकाश को अवरुद्ध करने वाले अविद्यादि क्लेश, कर्म-विपाक आदि मल जो रज के मूल कहे गये हैं, उन सभी अविद्याओं का विनाश हो जाता है। ये क्लेश ही चित्त के प्रकाश के आवरण हैं। इनका विलय होने पर योगी का चित्त अपनी इच्छानुसार गमनागमन करता है॥ ४३॥

उपर्युक्त सूत्र क्र० ४३ तक विविध प्रकार के संयमों को फल के सहित कहा गया है। प्रथम (समाधि) पाद के ४१ वें सूत्र में ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीता में की जाने वाली सबीज-समाधि के लक्षण कहे गये थे, उनका फल वर्णन करने के पूर्व पञ्च भूतों में और तज्जनित पदार्थों में की जाने वाली ग्राह्य विषयक समाधि के फल का वर्णन इस सूत्र में किया गया है —

(१५०) स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः॥ ४४॥

सूत्रार्थ— स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमात् = (भूतों की) स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय, अर्थवत्त्व- इन पाँच प्रकार की अवस्थाओं में संयम करने से (योगी को), भूतजयः = पञ्च भूतों पर विजय मिल जाती है।

व्याख्या— पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश- ये पञ्चभूत कहलाते हैं। इनमें प्रत्येक भूत की पाँच-पाँच अवस्थाएँ कही गई हैं, जैसे- १.स्थूल २. स्वरूप ३. सूक्ष्म ४. अन्वय ५. अर्थवत्त्व।

१. **स्थूलावस्था—** हम जिस रूप में इन (भूतों) को अपनी इन्द्रियों से प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं तथा जिन्हें गीता के १३.५ में इन्द्रियगोचर के नाम से व्यक्त किया गया है,वे इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गंध नामक ये पाँचों विषय ही इनकी स्थूल अवस्था है।

२. **स्वरूपावस्था—** इन भूतों के जो लक्षण हैं, वही इनकी स्वरूपावस्था है। उदाहरणार्थ-पृथ्वी की

मूर्ति (स्थूल तत्त्व), अग्नि की गर्मी एवं प्रकाश, जल का गीलापन, वायु की गति एवं कम्पन होना तथा आकाश का अवकाश (रिक्त स्थान) होना। यही इनकी स्वरूपावस्था कही गई है; क्योंकि इन्हीं के द्वारा इनकी पृथक्-पृथक् सत्ता की अनुभूति होती है।

३. सूक्ष्मावस्था— स्थूलभूतों की जो कारण-अवस्था है, जिन्हें तन्मात्रा एवं सूक्ष्म महाभूत भी कहते हैं; वे ही इन (भूतों) की सूक्ष्म अवस्थाएँ हैं। उदाहरणार्थ है- जैसे- पृथ्वी की तन्मात्रा गन्ध, जल की तन्मात्रा रस, अग्नि की तन्मात्रा रूप, वायु की स्पर्श और आकाश की तन्मात्रा शब्द है। इन्हें ही सूक्ष्म-अवस्था कहा गया है।

४. अन्वयअवस्था— पाँचों भूतों में जो सत्त्व, रजस्, तमस्, इन तीनों गुणों का स्वभाव अर्थात् प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति व्याप्त है, वही इनकी अन्वय-अवस्था कहलाती है।

५. अर्थवत्त्व-अवस्था— ये पाँचों भूत मनुष्य के भोग एवं अपवर्ग के लिए हैं। यही इनकी अर्थवत्त्व अवस्था कहलाती है।

इस प्रकार से इन पञ्चभूतों को प्रत्येक अवस्था के क्रमपूर्वक सभी अवस्थाओं में अच्छी तरह से संयम करके योगी-साधक साक्षात्कार कर पञ्चभूतों को सिद्ध कर लेता है। योगी का इन भूतों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। जिस तरह से गौ बछड़े के अनुकूल होती है, वैसे ही पञ्चभूतों की प्रकृतियाँ योगी-साधक के अनुकूल हो जाती हैं॥ ४४॥

योगी को जब भूतों की सिद्धि मिल जाती है, तब उसके पश्चात् क्या होता है? इसका वर्णन इस सूत्र में किया जा रहा है —

(१५१) ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत्तद्धर्माऽनभिघातश्च॥ ४५॥

सूत्रार्थ— ततः = उस (भूतजय) से, अणिमादिप्रादुर्भावः = अणिमादि आठ सिद्धियों का प्रकट हो जाना, कायसम्पत् = कायसम्पत् की प्राप्ति, च = और, तद्धर्माऽनभिघातः = उन भूतों के धर्मों से बाधा न होना- (ये तीनों होते हैं)।

व्याख्या— क. पञ्चभूतों के सिद्ध हो जाने पर आठ प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इन सिद्धियों के नाम व लक्षण क्रमशः निम्नवत् है —

१. अणिमा— अणुवत् सूक्ष्म रूप निर्मित कर लेना- जैसे हनुमान् जी ने लंका में प्रवेश करते समय अपना शरीर अणुसदृश कर लिया था।

२. लघिमा— शरीर को हलका कर लेना। इससे जल, कीचड़ एवं काँटों पर गमन करने में कोई बाधा नहीं होती। आकाश गमन की शक्ति भी प्राप्त हो जाती है।

३. महिमा— शरीर को सर्वाधिक विकसित (बड़ा) कर लेना। जैसे-हनुमान् जी ने सुरसा के समक्ष किया था।

४. प्राप्ति— स्वेच्छापूर्वक किसी भी पदार्थ को संकल्प मात्र से ही प्राप्त कर लेना। जैसे- पृथ्वी पर बैठकर के हाथ से चन्द्रमा का स्पर्श कर लेना।

५. प्राकाम्य— बिना किसी बाधा के पञ्च भौतिक पदार्थ से सम्बन्धित इच्छा की अनायास ही पूर्ति हो जाना।

६. वशित्व— पञ्च भूतों का एवं तज्जन्य पदार्थों का सिद्ध हो जाना ही वशित्व कहलाता है। (पञ्च भूतों के सूक्ष्म रूप में संयम द्वारा ही इस सिद्धि की प्राप्ति हो जाती है।)

७. ईशित्व— पञ्चभूतों एवं भौतिक पदार्थों के विविध रूपों में प्रादुर्भाव एवं विनाश की शक्ति तथा उन पर आधिपत्य करने की सामर्थ्य प्राप्त हो जाती है।

८. यत्रकामावसायित्व— (**सत्यसङ्कल्पता**) जिस तरह का सङ्कल्प हो, भूत एवं प्रकृति का उसी तरह का अवस्थान होना। यत्रकामावसायी योगी सामर्थ्यवान् होने पर भी (जागतिक) पदार्थों में विप्लव नहीं करते; क्योंकि अन्य यत्रकामावसायी पूर्व सिद्ध का उसी तरह के भावों में (जिस रूप से जगत् रहता हो, उसी रूप में) संकल्प है।

यही आठ प्रकार की सिद्धियाँ योग ग्रन्थों में बतलाई गई हैं। कुछ टीकाकारों ने '**यत्रकामावसायित्व**' के स्थान पर '**गरिमा**' (शरीर को अत्यधिक वजनदार बना लेना) नामक सिद्धि को प्रतिपादित किया है।

ख. कायसम्पत्— काया (शरीर) की सम्पत्ति। इसके अन्तर्गत चार प्रकार की सम्पत्तियाँ बतलाई गई हैं। इनका विस्तृत विवेचन अगले सूत्र में किया गया है।

ग. भूतों के धर्मों से बाधा का न होना— इसका तात्पर्य यह है कि भूतों के धर्म उस योगी के कार्य में बाधा (किसी भी तरह की रुकावट) नहीं डाल सकते। पञ्चभूत सिद्ध योगी पृथ्वी के भीतर भी वैसे ही प्रविष्ट हो सकता है जैसे कि प्रत्येक मानव जल में प्रविष्ट हो जाता है। पृथ्वी का धर्म स्थूलभाव (कठोरता) योगी को बाधक नहीं बना सकता। उस पर पत्थरों की वर्षा से भी आघात नहीं पहुँचाया जा सकता। ऐसे ही जल की आर्द्रता उसे गला नहीं सकती, अग्नि की उष्णता उसे दग्ध नहीं कर सकती और वायु का वेग उसे विचलित नहीं कर सकता। ये सभी सिद्धियाँ पञ्चभूतों को पाँचों अवस्थाओं पर संयम करके साक्षात् कर लेने पर ही मिल सकती हैं॥ ४५॥

इस सूत्र में 'कायसम्पत्' का विवेचन किया गया है —

(१५२) रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥ ४६॥

सूत्रार्थ— रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि = रूप, लावण्य, बल एवं वज्र के सदृश संगठन- ये, कायसम्पत् = शरीर की सम्पदाएँ हैं।

व्याख्या— शरीर का सुगठित एवं आकृति का सौन्दर्ययुक्त होना ही रूप है। समस्त अङ्गों में चमक-कान्ति का होना ही लावण्य है। शरीर में बल (शक्ति) का बाहुल्य होना एवं शरीर के समस्त अङ्गों का वज्रवत् दृढ़ और परिपुष्ट होना— यही चारों कायसम्पत् (शरीर सम्पदाएँ) कहलाती हैं॥ ४६॥

अब यहाँ इस सूत्र में मन के सहित एकादश इन्द्रियों के संयम का वर्णन किया जा रहा है—

(१५३) ग्रहणस्वरूपाऽस्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥ ४७॥

सूत्रार्थ— ग्रहणस्वरूपाऽस्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमात् = ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय एवं अर्थवत्त्व इन पाँचों अवस्थाओं में संयम करने से, इन्द्रियजयः = मन सहित एकादश इन्द्रियों पर विजय प्राप्त हो जाती है—

व्याख्या— मन के सहित समस्त इन्द्रियों की पाँच अवस्थाएँ कही गई हैं। उन सभी में क्रमिक रूप से संयम करने पर योगी का इन्द्रियों पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। मन एवं इन्द्रियों की अवस्थाओं के भेद निम्नलिखित हैं।

१. ग्रहण— विषयों को ग्रहण करते समय वृत्ति के आकार में मन सहित समस्त इन्द्रियों की जो अवस्था होती है,उसे इन्द्रियों की ग्रहण अवस्था कहते हैं। इसे विषयाभिमुखी वृत्ति भी कहा जाता है।

२. स्वरूप— मन एवं इन्द्रियों का सहज स्वाभाविक रूप प्रकाशकत्व है। वह अपने-अपने स्थल पर अवस्थित रहता है तथा लक्षण (संकेत) के द्वारा जानकारी में आता है। यही उन इन्द्रियों की स्वरूपावस्था कहलाती है।

३. अस्मिता— यह मन एवं इन्द्रियों का सूक्ष्म रूप है। इसी के द्वारा मन एवं समस्त इन्द्रियों का प्रादुर्भाव होता है। यही इन्द्रियों की सूक्ष्मावस्था होती है।

४. अन्वय— मन एवं सभी इन्द्रियों में जो सत्त्व, रजस्, तमस्-तीनों गुणों का स्वभाव अर्थात् प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति संव्याप्त है। यही उन इन्द्रियों की अन्वय-अवस्था कहलाती है।

५. अर्थवत्त्व — मन के सहित समस्त इन्द्रियाँ पुरुष के भोग एवं मोक्ष के लिए हैं। यही इनकी अर्थवत्त्व-अवस्था (सार्थकता) कहलाती है।

इस प्रकार जब योगी-साधक मन सहित सभी इन्द्रियों की पाँचों अवस्थाओं में क्रमश: संयम करके सम्यक् रूप से साक्षात्कार कर लेता है, तब वह इन्द्रियजित् हो जाता है। इन्द्रियों पर उसका पूर्ण अधिकार हो जाता है।

ये समस्त इन्द्रियाँ मन सहित अहंकार द्वारा प्रादुर्भूत हैं। मन और इन्द्रियों की सन्धि से ही पुरुष विषयों को ग्रहण करता है अथवा एकाकी मन के द्वारा भी ग्रहण कर लेता है। इस कारण यहाँ इन्द्रियजित् से मन एवं समस्त इन्द्रियों पर विजय समझनी चाहिए और मन में की जाने वाली तथा अस्मिता में की जाने वाली समाधि को भी ग्रहण अवस्था में की जाने वाली समाधि के अन्तर्गत ही जानना चाहिए॥ ४७॥

अब उपर्युक्त इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के फल का वर्णन करते हैं —

(१५४) ततो मनोजवित्वं विकरणभाव: प्रधानजयश्च॥ ४८॥

सूत्रार्थ— तत: = उस (इन्द्रियजय) से, मनोजवित्वम् = मन के सदृश गति, विकरणभाव: = शरीर के बिना भी विषयों का अनुभव करने की शक्ति, च = और, प्रधानजय: = प्रकृति पर अधिकार-ये तीनों सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

व्याख्या— मनोजवित्व, विकरणभाव एवं प्रधानजय (प्रकृति पर अधिकार) इन तीनों सिद्धियों का, जो कि इन्द्रियजय से प्राप्त होती है, अलग-अलग स्वरूप इस प्रकार है-

१. मनोजवित्व— स्थूल शरीर एवं समस्त इन्द्रियों के सहित मन की भाँति क्षण भर में कहीं से कहीं देश-विदेश में गमन करने की शक्ति को मनोजवित्व कहते हैं। इसे ही 'मन की तरह गति' की शक्ति कहा जाता है। यह ग्रहण-अवस्था में धारणादि के संयम से होती है।

२. विकरणभाव— स्थूल शरीर के अभाव में देश-विदेश में स्थित वस्तुओं को प्रत्यक्ष कर लेने की शक्ति को ही विकरण भाव कहते हैं। इस शक्ति के द्वारा दूरस्थ वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है। वह सिद्धि स्वरूपावस्था का संयम करने से प्राप्त हो जाती है। इसी पाद के ४३ वें सूत्र में विवेचित महाविदेहा धारणा जब सिद्ध हो जाती है, तब उस समय भी मन एवं इन्द्रियों में यही शक्ति कार्य करती है। इसी के द्वारा मानव देश-विदेश में स्थित पर-शरीर को प्रत्यक्ष करके उसी में प्रवेश करता है। महाविदेहा धारणा एवं इन सिद्धियों का एक जैसा ही फल है।

५. प्रधानजय— कार्य एवं कारणरूप में स्थित प्रकृति के सभी भेदों पर पूर्ण अधिकार हो जाना ही 'प्रधानजय' कहलाता है।

यह अस्मिता, अन्वय एवं अर्थवत्त्व-अवस्था में संयम का फल है। यह शक्ति इन्हीं अवस्थाओं के संयम से प्राप्त होती है। ये तीनों सिद्धियाँ मधु प्रतीक कही गई हैं। ये ग्रहण विषयक समाधि के सिद्ध हो जाने पर स्वत: ही प्राप्त हो जाती हैं॥ ४८॥

जिस विवेकख्याति (आत्मज्ञान) के लिए उपर्युक्त संयम कहे गये हैं, अब उन्हीं का अवान्तर फल इस सूत्र में व्यक्त किया जा रहा है—

(१५५) सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥ ४९॥

सूत्रार्थ— सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य = बुद्धि और पुरुष-इन दोनों की भिन्नता मात्र का ही जिसमें ज्ञान रहता है, ऐसी सबीज समाधि को प्राप्त योगी का; सर्वभावाधिष्ठातृत्वम् = सभी भावों पर स्वामिभाव, च = और, सर्वज्ञातृत्वम् = सर्वज्ञ भाव हो जाता है।

व्याख्या— जब बुद्धि के रजोगुण और तमोगुण के द्वारा उत्पन्न संस्कार सर्वथा धुल जाते हैं और उसमें मात्र शुद्ध सत्त्वगुण के ही संस्कार प्रकट होकर सतत प्रकाशित होते रहते हैं उस समय मात्र बुद्धि (प्रकृति) और पुरुष की भिन्नता का अनुभव करने वाली वृत्ति (विवेकख्याति) ही शेष रहती है। इसे ही आत्मज्ञान भी कहते हैं। इस विवेकख्याति के प्राप्त हो जाने पर योगी-साधक आत्म साक्षात्कार कर वैराग्य की स्थिति प्राप्त कर लेता है। उसे प्रकृति व उसके परिणाम स्वरूप सम्पूर्ण पदार्थों का स्वामिभाव प्राप्त हो जाता है एवं समस्त प्राणियों व पदार्थों के अतीत, अनागत और वर्तमान में प्रतिष्ठित-अवस्थित गुणों को एक साथ जान लेता है। इसे ही विशोका सिद्धि कहा जाता है। इस सिद्धि के प्राप्त हो जाने पर वह अस्मितादि क्लेशों के बन्धनों को नष्ट करके सर्वज्ञ होकर आनन्दपूर्वक भ्रमण (विचरण) करता है॥ ४९॥

उपर्युक्त सिद्धि से अलग निर्बीज-समाधि रूप कैवल्य की प्राप्ति का वर्णन इस सूत्र में किया जा रहा है —

(१५६) तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ५०॥

सूत्रार्थ— तद्वैराग्यादपि = उस (उपर्युक्त सिद्धि) में भी वैराग्य होने से, दोषबीजक्षये = दोष के बीज का नाश हो जाने पर, कैवल्यम् = कैवल्य की प्राप्ति होती है।

व्याख्या— विवेकख्याति द्वारा जब यह ज्ञान हो जाता है कि बुद्धि और पुरुष दोनों पृथक्-पृथक् हैं। इन दोनों का संयोग अविद्याकृत है, यथार्थ नहीं। उस समय उसके समक्ष पूर्व सूत्र में कही हुई सिद्धि का प्राकट्य होता है। उन सिद्धियों में न फँसकर जो योगी, पुरुष को सदैव असङ्ग, निर्विकार, कूटस्थ, आनन्दस्वरूप, चैतन्यमय एवं सभी गुणों और उनके कार्यों को जड़, दु:खमय एवं प्रतिक्षण बदलने वाला समझता है, वह सभी तरह के गुणों से तथा उनके कार्यों से विरक्त हो जाता है। उपर्युक्त प्रथम पाद(समाधि)के सोलहवें सूत्र में वर्णित पर-वैराग्य जब दोषों के बीजरूपी अन्तिम वृत्ति का भी सदा के लिए निरोध हो जाता है, तब निर्बीज समाधि की प्राप्ति होती है। इसी अवस्था में ब्रह्मानन्द की अनुभूति होती है, उसे ही कैवल्य कहा जाता है॥ ५०॥

जब योगी धीरे-धीरे योग की उच्च स्थिति में पहुँचने लगता है, तब उसके जीवनकाल में भिन्न-भिन्न तरह के अवरोध आने लगते हैं। इस सूत्र में विघ्नों-अवरोधों से बचने हेतु सतर्क किया गया है —

(१५७) स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्॥ ५१॥

सूत्रार्थ— स्थान्युपनिमन्त्रणे = लोकपाल देवताओं के बुलाने पर, सङ्गस्मयाकरणम् = न तो (उनके भोगों में) सङ्ग (राग) करना चाहिए और न ही अभिमान करना चाहिए, पुनरनिष्टप्रसङ्गात् = क्योंकि ऐसा करने से पुन: अनिष्ट होना सम्भव है।

व्याख्या— जब योगी-साधक की योगमार्ग में शनैः-शनैः उच्च स्थिति हो जाती है, तब उस समय उस अवस्था को प्राप्त हुए साधक को लोकपाल, अधिष्ठाता देवता एवं सिद्ध जनों के साक्षात् दर्शन होने लगते हैं। देवगण योगी को अपने लोकों (धामों) में भोग आदि के सुख दिखलाकर, भिन्न-भिन्न तरह से उन भोगों की महत्ता बतलाकर अपने समीप में आमन्त्रित करते रहते हैं। उस अवधि में योगी को अत्यन्त सतर्क रहना चाहिए, उनके आकर्षण-प्रलोभन में नहीं पड़ना चाहिए। अपने मन में बारम्बार यह भाव लाते रहना चाहिए कि जन्म-जन्मान्तरों में कर्मों का भोग करते-करते बड़े सौभाग्य से महान् पुरुषों तथा ईश्वर की महान् कृपा से ऐसी अवस्था प्राप्त हुई है। इसके समक्ष ये विभिन्न प्रकार के नाशवान् भोग अत्यन्त तुच्छ हैं। इनके लोभ में पड़कर मैं स्वयं अपने को किस प्रकार संसार रूपी सागर में डुबा सकता हूँ?

मैंने तो इन सभी का तत्त्व सम्यक् रूप से जान लिया है, इनमें शाश्वत आनन्द की सुवास भी नहीं है। ऐसा विचार कर उन भोगों से विरक्त हो जाना चाहिए। उन प्रलोभनों में रञ्चमात्र भी अपने चित्त का रागयुक्त सम्बन्ध अर्थात् आसक्ति नहीं होने देना चाहिए एवं इस बात का अहंभाव भी अपने अन्तस् में नहीं लाना चाहिए कि मैंने उच्च अवस्था को प्राप्त कर लिया है।

इस उच्च अवस्था को प्राप्त करने के कारण ही ये लोकपाल, दिक्पाल आदि देवगण मेरा सम्मान करते हैं और मुझे अपने धाम में निवास हेतु बुलाते हैं; क्योंकि सङ्ग एवं अभिमान करने से योगी को फिर संसार-सागर में बँधने का प्रसङ्ग आ जाता है। इसलिए योगी को प्रत्येक क्षण हर तरह के विघ्न-बाधाओं से सतर्क रहना चाहिए। इस सूत्र में यही भाव व्यक्त किया गया है॥ ५१॥

विवेक ज्ञान के प्राकट्य का एक अन्य उपाय इस सूत्र में व्यक्त किया जा रहा है—

(१५८) क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥ ५२॥

सूत्रार्थ— क्षणतत्क्रमयोः = क्षण और उसके क्रम में, संयमात् = संयम करने से, विवेकजम् =विवेकजनित, ज्ञानम् = ज्ञान उत्पन्न होता है।

व्याख्या— समय (काल) का जो अत्यल्प भाग है अर्थात् जिससे लघु विभाग हो ही नहीं सकता, उसे ही 'क्षण'कहते हैं। उसका जो एक क्षण के पश्चात् दूसरे क्षण के उत्पन्न होने का निरन्तर सातत्य है, उसी का नाम क्रम है। योगीजन इसे ही काल (समय)कहते हैं। क्षण एवं उसका क्रम भिन्न है। दो क्षणों का एक-साथ होना भी असंभव है। एक क्षण के पश्चात् अथवा पूर्व में दूसरा क्षण होता है। भविष्यत् क्षण 'भूत' के ही परिणाम कहे गये हैं। वर्तमान क्षण के द्वारा ही समस्त लोक परिणाम प्राप्त करते हैं अर्थात् एक क्षण पर वर्तमान के सभी धर्म आश्रित हैं। अतः क्षण एवं उसके क्रम में संयम कर लेने पर विवेक जनित ज्ञान प्रादुर्भूत हो जाता है॥ ५२॥

इस सूत्र में विवेकज्ञान का लक्षण बतलाया जा रहा है —

(१५९) जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः॥ ५३॥

सूत्रार्थ— जातिलक्षणदेशैः = (जिन वस्तुओं का) जाति, लक्षण एवं देशभेद से, अन्यताऽनवच्छेदात् = भेद नहीं किया जा सकता, इस कारण; तुल्ययोः = जो दो वस्तुएँ तुल्य (एक के सदृश) प्रतीत होती हैं, उनके भेद की; प्रतिपत्तिः = उपलब्धि, ततः = उस (विवेकज्ञान) से होती है।

व्याख्या— इस जगत् में जितने भी पदार्थ हैं, उनका भेद जानने के तीन कारण कहे गये हैं। वे तीन कारण हैं- जाति, लक्षण और देश। इन्हीं तीनों के द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है। जो दो पदार्थ एक देश और एक लक्षण वाले हैं, उनकी पृथकता जाति के द्वारा ज्ञात की जाती है, जैसे- गाय और भैंस। इन दोनों का

(१६१) सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्॥ ५५॥

सूत्रार्थ— सत्त्वपुरुषयोः = बुद्धि एवं पुरुष-इन दोनों की, शुद्धिसाम्ये = जब साम्य (समान) भाव से शुद्धि हो जाती है, तब; कैवल्यम् = कैवल्यावस्था होती है।

व्याख्या— जब बुद्धि के रजस् एवं तमस् गुण रूपी मल-विक्षेप समाप्त हो जाते हैं और सत्त्वगुण रूपी बुद्धि पूर्ण शुद्ध (निर्मल) हो जाती है, तब पुरुष को बुद्धि से पृथक् होने का बोध (साक्षात्) होता है। सम्पूर्ण क्लेश के बीज संस्कार जब भस्म हो जाते हैं, तब पुरुष का शुद्ध रूप प्रतिभासित होता है अर्थात् मल-विक्षेप-आवरण का अभाव होने से पुरुष भी शुद्ध, निर्विकार, निर्मल हो जाता है। इस तरह से जब बुद्धि एवं पुरुष-दोनों की समान-भाव से शुद्धि हो जाती है, तब कैवल्यावस्था प्राप्त होती है। वह चाहे किसी भी कारण से किसी भी तरह से क्यों न प्राप्त हो जाए? पुरुष अज्ञानता के कारण दुःख-सुख का भोग भोगता है। इन भोगों का अभाव ही पुरुष-स्वरूप की शुद्धि है। ऐसी स्थिति में योगी को कैवल्य की प्राप्ति होती है, चाहे वह सिद्धियों से सम्पन्न हो अथवा न हो। इसका कारण यह है कि जिस योगी के क्लेश रूपी बीज दग्ध हो चुके होते हैं, तब वह ज्ञान पर पुनः निर्भर नहीं होता। निर्मल बुद्धि होने से समाधि द्वारा ऐश्वर्य-प्राप्ति प्रमुख लक्ष्य नहीं है, प्रमुख लक्ष्य तो परमार्थ ही है। कैवल्य के लिए विवेक-जन्य ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। ज्ञान से अविद्या का शमन, अविद्या के नाश से क्लेशों का नाश तथा क्लेशों के नष्ट होने पर कर्मफलों की निवृत्ति हो जाती है। निवृत्ति की स्थिति में कर्त्तव्यों से मुक्त गुण-दृश्य के भाव पुरुष के समक्ष प्रस्तुत नहीं होते हैं। यही कैवल्यावस्था कहलाती है। उस क्षण पुरुष-स्वरूप मात्र में अर्थात् अपने ही शाश्वत प्रकाश में अवस्थित हो जाता है। अपवर्ग, निर्वाण, मुक्ति, मोक्ष, स्वरूपावस्थित, परमवास आदि कैवल्य के ही पर्याय कहे गये हैं॥ ५५॥

॥ इति विभूतिपादः समाप्तः ॥

॥ अथ कैवल्यपादः ॥

योग दर्शन के प्रथम पाद में समाधि का वर्णन है, इसलिए उसे 'समाधि पाद' की संज्ञा दी गई है। द्वितीय पाद में समाधि के साधनों की प्रधानता होने से उसे 'साधन पाद', तृतीय पाद में समाधि से प्राप्त विभिन्न सिद्धियों-विभूतियों का विवेचन होने से 'विभूति पाद' कहा गया है तथा चतुर्थ पाद में समाधि के वास्तविक फल कैवल्य अवस्था का विवेचन किया गया है, अतः इसका नाम कैवल्य पाद रखा गया है। विभूति पाद में विभिन्न सिद्धियों की प्राप्ति केवल समाधि द्वारा वर्णित की गई है; किन्तु इस (कैवल्यपाद) में सिद्धियों के अन्य कारण भी बताये गये हैं। उसी प्रसङ्ग से इसका प्रथम सूत्र आरम्भ होता है।

(१६२) जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥

सूत्रार्थ— जन्मौषधिमन्त्रतपः समाधिजाः - जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि से उत्पन्न होने वाली, सिद्धयः= (पाँच) सिद्धियाँ होती हैं।

व्याख्या— शरीर, इन्द्रियों एवं चित्त में पूर्व की अपेक्षा विलक्षण परिवर्तन आना, उनमें शक्ति संचार होकर और समर्थ बन जाना 'सिद्धि' है, इसके पाँच कारण हैं-

१ जन्मजा सिद्धि— पूर्व जन्मों में किये गये श्रेष्ठ कर्मों के कारण वर्तमान जन्म में कई सिद्धियाँ बिना श्रम के प्राप्त होती देखी जाती हैं। जैसे कपिल, वेद-व्यास, शुकदेव आदि ने पूर्वजन्मों के संस्कार वश विभिन्न सिद्धियाँ बचपन में ही प्राप्त कर ली थीं। यद्यपि प्रत्यक्षतः इतनी कम आयु में उनने कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं किया था, तो भी उनकी तेजस्विता उस अल्पवय में भी परिलक्षित होती थी। अस्तु, यह उनका पूर्व पुरुषार्थ था, जो इस जन्म में जन्म के साथ ही फलीभूत हुआ; अतः यह जन्मजा सिद्धि हुई। इसी प्रकार पूर्व कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य से देवयोनि पाकर उसमें दिव्य शरीर और अणिमा आदि सिद्धियों को प्राप्त करना भी जन्मजा सिद्धि कहलाती है।

(२) ओषधिजा सिद्धि— जब मनुष्य किसी रसायन या ओषधि के सेवन से शरीर का कल्प कर उसमें विभिन्न शक्तियों का संचार कर जरा-मरण का निवारण कर उसे चिर युवा बना लेता है,तो उसे ओषधिजा सिद्धि कहते हैं। जैसे-च्यवन ऋषि दिव्य ओषधियों का सेवन करके वृद्ध से पुनः युवा हो गये थे। यह शक्ति केवल मनुष्यों में ही नहीं, वरन् वृक्ष-वनस्पतियों, पशु-पक्षियों में भी विकसित की जा सकती है।

(३) मन्त्रजा सिद्धि— जब मनुष्य अद्भुत सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए किसी मन्त्र का आश्रय लेकर सविधि अनुष्ठान करता है, इससे भी इन्द्रियों में विशेष शक्ति तथा चित्त में विलक्षण शक्ति का संचार होता है, तब इसे मन्त्रजा सिद्धि कहते हैं। साधक इन सिद्धियों से आकाश-गमन आदि शक्तियाँ प्राप्त कर लेते हैं। तन्त्र शास्त्रों में इनका विस्तृत वर्णन मिलता है।

(४) तपजा सिद्धि— शास्त्रोक्त तप का विधिपूर्वक अनुष्ठान करने अथवा अपने धर्म और कर्त्तव्य पालन के लिए बड़े से बड़े कष्ट सहर्ष सहन कर लेने से शरीर, इन्द्रियों और चित्त के विकार भस्मसात् हो जाते हैं, जिससे चित्त एकाग्र हो जाता है और इससे विलक्षण शक्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐतिहासिक ग्रंथों में कई जगह ऐसी सिद्धियों का उल्लेख भी है। भारद्वाज और विश्वामित्र जैसे ऋषियों द्वारा इस प्रकार की अनेक सिद्धियों का प्रयोग करके भी दिखाया गया है।

(५) समाधिजा सिद्धि— धारणा, ध्यान एवं समाधि के अभ्यास से, शरीर, इन्द्रियों एवं चित्त में जो अद्भुत परिवर्तन होता एवं अपूर्व शक्तियों का संचार होता है, उन्हें समाधिजा सिद्धि कहते हैं। इस सन्दर्भ में सूत्रकार ने तृतीय विभूति पाद में सविस्तार वर्णन किया है॥ १ ॥

कुछ भाष्यकारों ने जन्मजा आदि सिद्धियों के विषय में कहा है कि पूर्वजन्म के समाधि अभ्यास से ही इस जन्म में सिद्धि मिलती है । अतः वह समाधिजा सिद्धि के अन्तर्गत ही है। इसी प्रकार जन्म, ओषधि आदि को निमित्त मात्र माना है। अतः इन सिद्धियों के अन्तर्गत शरीर, इन्द्रियों और चित्त में विलक्षण शक्ति का उत्पन्न होना परिणाम का अन्तर भर है। इसी को जाति-अन्तर परिणाम भी कहा गया है, अतः अगले सूत्र में जात्यन्तर परिणाम विवेचित किया गया है—

(१६३) जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ २॥

सूत्रार्थ— जात्यन्तरपरिणामः = यह जात्यन्तर परिणाम अर्थात् एक जाति से दूसरी जाति में बदल जाना है, जो; प्रकृत्यापूरात् = प्रकृति की पूर्णता से होता है।

व्याख्या— शरीर, इन्द्रियों व चित्त आदि का ओषधि, मन्त्र, तप आदि से दूसरी जाति (स्थिति) में परिवर्तित हो जाना जात्यन्तर परिणाम कहलाता है। प्रकृति की पूर्णता होने से यह परिणाम होता है। पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश — ये पञ्चभूत प्रकृति हैं। ये ही देह के कारण रूप हैं, इन्द्रियों का कारण अस्मिता अर्थात् अहंकार है। इनके अंगों का अनुप्रवेश ही 'आपूर' कहलाता है और इस 'आपूर' के कारण ही उक्त (जात्यन्तर) परिणाम होता है। इसका अभिप्राय यह है कि योगी के शरीर, इन्द्रियों आदि के पहले वाले रजोगुण, तमोगुणयुक्त भाव हटकर उनके स्थान पर जैसे-जैसे सतोगुणी भाव आते जाते हैं, वैसे-वैसे शरीर, इन्द्रियाँ, चित्त आदि विलक्षण शक्ति से युक्त होते जाते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही नया बन जाता है, यही जात्यन्तर परिणाम है। जिस प्रकार अग्नि की एक चिनगारी को सूखे तिनके पर डालने से अग्नि के अपूर्व (जो पूर्व में कम थे) अवयवों का समूह प्रचण्ड हो जाता है। इसी प्रकार योगी के रजोगुण, तमोगुण नष्ट होकर सतोगुण अवयव वृद्धि को प्राप्त होते जाते हैं। यह जात्यन्तर प्रकृति-आपूर से हुआ करता है। श्री वामन भगवान् और श्रीकृष्ण के स्वरूप का एकदम विराट् हो जाना प्रकृति के अवयवों के प्रवेश के कारण सम्भव हुआ था। इसी प्रकार महर्षि अगस्त्य द्वारा समुद्र पान करना, प्रकृति के अवयवों के अपगम (निकल जाने) के कारण ही सम्भव हुआ था। बाल शरीर का युवा हो जाना, वट बीज का वृक्ष बन जाना भी इसी प्रकृति आपूर द्वारा होना मानना चाहिए॥ २॥

अब प्रश्न यह उठता है कि जन्म, ओषधि आदि जो निमित्त कारण हैं, इनके द्वारा प्रकृति किस तरह 'आपूर' (पूर्णता) कर देती है। क्या ये (उपर्युक्त जन्मादि कारण) प्रकृति के नियोजक (संचालक) हैं। इसका उत्तर अगले सूत्र में देते हैं—

(१६४) निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥ ३॥

सूत्रार्थ— निमित्तम् = निमित्त कारण (योगज धर्म), प्रकृतीनाम् = प्रकृतियों को, अप्रयोजकम् = संचालित करने वाला नहीं है, ततः = उससे, तु = तो (मात्र), क्षेत्रिकवत् = क्षेत्रिक (किसान) की तरह, वरणभेदः = अवरोध का छेदन किया जाता है।

व्याख्या— योगज धर्मादि निमित्त (जन्म, ओषधि, तप आदि) प्रकृति को चलाने वाले (प्रवर्तक) नहीं हैं; क्योंकि वे तो प्रकृति के कार्य हैं और कार्य, कारण का संचालक नहीं हो सकता। जिस प्रकार घट अपने दण्ड, जल, मिट्टी, चक्र आदि कारणों का कार्य है, अतः घट इन सभी का प्रवर्त्तक नहीं हो सकता। इसी प्रकार जन्म, ओषधि आदि शरीर-इन्द्रिय-चित्त में अभीष्ट परिवर्तन हेतु मात्र अवरोध को दूर करते हैं। शेष कार्य तो स्वतः हो जाता है। जैसे कोई किसान एक खेत से दूसरे खेत में पानी ले जाना चाहता है, तो वह पानी ले जाने वाले मार्ग के अवरोध (रुकावट) भर को दूर करता जाता है। जल को चलाने का कार्य कृषक नहीं करता, वह तो स्वाभाविक रूप से होता है। पूर्व वर्णित निमित्तों के सन्दर्भ में भी यही बात

है कि जन्म, ओषधि आदि द्वारा जब अवरोध दूर हो जाते हैं, तो शरीर, इन्द्रियों तथा चित्त आदि में आवश्यक परिवर्तन हेतु जिन तत्त्वों की आवश्यकता होती है, उनकी आपूर्ति प्रकृति स्वयं कर देती है; क्योंकि अवरोध दूर होने पर कमी को पूरा कर देना प्रकृति का स्वाभाविक गुण है॥ ३॥

(१६५) निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्॥ ४॥

सूत्रार्थ— निर्माण चित्तानि= निर्मित चित्त, अस्मिता-मात्रात् = मात्र अस्मिता से होते हैं।

व्याख्या— इस सूत्र में यह बताने का प्रयत्न किया गया है कि जिस प्रकार योगी प्रकृति के उपादानों से शरीर का निर्माण कर लेता है, उसी प्रकार वह शरीर के लिए उपयोगी, अहंकार उपादान से चित्त (मन) का निर्माण कर लेता है।

यहाँ मन का उपादान कारण अस्मिता (अहंकार) है। चित्त से तात्पर्य यहाँ मन से है। 'चित्तानि' पद बहुवचन वाची है, जिसका अभिप्राय है कि योगी द्वारा अनेक शरीरों के निर्माण की तरह ही अस्मिता (अहंकार) से अनेक चित्तों का भी निर्माण हो सकता है॥ ४॥

अगले सूत्र में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि जो अनेक चित्त निर्मित होते हैं, उनका नियन्त्रण एक चित्त द्वारा ही होता है—

(१६६) प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्॥ ५॥

सूत्रार्थ— प्रवृत्ति भेदे= विभिन्न प्रकार की प्रवृत्तियों में, अनेकेषाम् = अनेक चित्तों को, प्रयोजकम् = नियुक्त करने वाला, एकम् = एक, चित्तम् = चित्त होता है।

व्याख्या— जिस प्रकार अपने शरीर का अधिष्ठाता बनकर मन शरीर की विभिन्न इन्द्रियों को उनके भिन्न-भिन्न कार्यों में नियुक्त करता है,उसी प्रकार विभिन्न-निर्मित चित्तों का प्रवर्तन करने वाला योगी का स्वाभाविक चित्त ही होता है। इन सभी चित्तों की प्रवृत्तियाँ योगी के उसी अधिष्ठाता चित्त के नियन्त्रण में ही चलती हैं॥ ५॥

अब प्रथम में वर्णित पाँच प्रकार की सिद्धियों में ध्यान (समाधि) द्वारा सिद्ध चित्त की विशेषता का वर्णन किया जा रहा है-

(१६७) तत्र ध्यानजमनाशयम्॥ ६॥

सूत्रार्थ — तत्र = उनमें से, ध्यानजम् = ध्यान जनित (चित्त), अनाशयम् = आशयरहित (कर्म संस्कारों से रहित होता है)।

व्याख्या— इसी पद के प्रथम सूत्र में बताया जा चुका है कि जन्म, ओषधि, मन्त्र, तप और समाधि इन कारणों के द्वारा शरीर, इन्द्रियों और चित्त में विलक्षण परिवर्तन होता है। इस सूत्र में यह स्पष्ट किया जा रहा है कि उपर्युक्त पाँचों कारणों द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुए चित्तों में से मात्र वही चित्त सर्वश्रेष्ठ होता है, जो ध्यान (समाधि) के द्वारा होता है। कारण यह है कि ध्यान द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त हुए चित्त में कर्म-संस्कार नहीं रहते, जिससे यह चित्त ही कैवल्य प्राप्ति का हेतु हो सकता है। अन्य जन्म, ओषधि, मन्त्र और तप से उत्कर्ष को प्राप्त हुए चित्त में कर्मों के कुछ न कुछ संस्कार शेष रहते हैं, अतः वे कैवल्य के हेतु नहीं हो सकते॥ ६॥

अब यह विवेचित किया जा रहा है कि कर्माशय शून्य सिद्ध योगी के कर्म किस प्रकार के होते हैं?

(१६८) कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥ ७॥

सूत्रार्थ— योगिनः = योगी के, कर्म = कर्म, अशुक्लाकृष्णम् = अशुक्ल और अकृष्ण (निष्काम) होते हैं, त्रिविध = तीन प्रकार के होते हैं, इतरेषाम् = दूसरों के।

व्याख्या— कर्म चार प्रकार के होते हैं- १. कृष्ण, २. शुक्ल ३. कृष्ण-शुक्ल ४. अकृष्ण-अशुक्ल।

१. कृष्ण कर्म चोरी, हिंसा, व्यभिचार आदि हैं, जिनका फल दुःख भोग, नरक आदि होता है। इन्हें पाप कर्म भी कहते हैं।

२. शुक्ल कर्म वे हैं, जिन्हें पुण्य कर्म कहते हैं और जिनका फल सुख भोग-स्वर्ग भोग आदि होता है। जैसे-अहिंसा, परोपकार, स्वाध्याय, जप, ध्यान आदि।

३. कृष्ण-शुक्ल कर्म जो कुछ पाप कर्म और कुछ पुण्य कर्म होते हैं, वे कृष्ण-शुक्ल कर्म कहलाते हैं।

४. अकृष्ण-अशुक्ल कर्म जो कर्म वासना रहित होते हैं, जिन्हें न पाप कर्म कह सकते हैं, न पुण्य कर्म। ऐसे कर्म अकृष्ण और अशुक्ल कर्म कहलाते हैं। ये कर्म निष्काम होते हैं। ऐसे कर्म सिद्ध योगियों के होते हैं, जिनके चित्त में कर्मों के संस्कार और वासनाएँ नहीं रहतीं। जिससे उनके फलों से वे मुक्त रहते हैं, जिससे वे कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करते। इसके विपरीत अन्य (साधारण) पुरुषों के कर्म उपर्युक्त तीन प्रकार के अर्थात् कृष्ण, शुक्ल और कृष्ण- शुक्ल (मिश्रित) होते हैं।

अब अगले सूत्र में साधारण मनुष्यों के कर्मों (जो तीन प्रकार के ऊपर वर्णित किये गये) का प्रतिफल बताते हैं —

(१६९) ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥ ८॥

सूत्रार्थ— ततः = उन (तीनों प्रकार के कर्मों) से, तद् विपाकानुगुणानाम् = उनके फल-भोगों के अनुसार, एव= ही, वासनानाम् = वासनाओं की, अभिव्यक्तिः = अभिव्यक्ति होती है।

व्याख्या— सामान्यतया मानव फलेच्छा से सकाम कर्म करते हैं और तदनुकूल ही उनकी वासनाएँ प्रकट होती हैं। कारण यह है कि अनेक पूर्व जन्मों की वासनाएँ संस्कार के रूप में अन्तःकरण में एकत्र रहती हैं, जिनके दो प्रकार हैं-१. स्मृति मात्र फल वाली, २. जाति, आयु तथा भोगरूप फलवाली। कर्मों के अनुसार ही ये वासनाएँ प्रकट होती हैं। जिस प्रकार के कर्मफल से मनुष्य जन्म ग्रहण करता है, उसी प्रकार की स्मृति वासनाएँ, दूसरी उन वासनाओं को जाग्रत् कर देती हैं, जो संस्कार के रूप में अनेक जन्मों से अन्तःकरण में संगृहीत हैं और जाति, आयु, फल, भोग वाली हैं। शेष वासनाएँ चित्त भूमि में प्रसुप्त होकर दबी रहती हैं।

यदि किसी जन्म में किए गये कर्मों का फल पशु योनि (जैसे- ऊँट, बिल्ली आदि) है, तो स्मृति वासनाएँ उस जन्म की वासनाओं (जैसे-ऊँट कण्टक भक्षण करता है और बिल्ली मूषक भक्षण करती है, तो उसकी उसी तरह की प्रवृत्ति युक्त वासनाओं) को जाग्रत् कर देती हैं और दूसरी वासनाएँ उस प्रकार का फल प्रदान करने लगती हैं। अस्तु, स्पष्ट है कि पूर्व जन्मों के संस्कार स्वरूप पूर्वकृत कर्मों का जैसा फल होने वाला है, वैसी ही वासना अभिव्यक्त (उत्पन्न) होती है, अन्य कर्मों के फल भोग की वासना उत्पन्न नहीं होती॥ ८॥

अगले सूत्र में यह विवेचन किया जा रहा है कि अनेक जन्मों के अनेक संस्कार इस वर्तमान जन्म के अनुसार फल की वासनाएँ किस प्रकार प्रकट करते हैं —

(१७०) जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥ ९॥

सूत्रार्थ— जातिदेशकालव्यवहितानाम् = जाति, देश और काल इन तीनों का व्यवधान (भेद) रहने पर, अपि= भी, आनन्तर्यम् = कर्म संस्कार में भेद नहीं होता; क्योंकि, स्मृतिसंस्कारयोः = स्मृति और संस्कार दोनों, एकरूपत्वात्= एक रूप (समान विषय वाले) होते हैं, इसलिए।

व्याख्या— कई बार ऐसा होता है कि कोई कर्म किसी एक जन्म में किया गया है और कोई कर्म किसी अन्य जन्म में, ऐसी स्थिति में उन कर्मों में एक या अनेक जन्मों का व्यवधान (अन्तर) होता है। इसी प्रकार अलग-अलग कर्मों में देश (स्थान) और काल (समय) का भी व्यवधान (अन्तर) होता है; किन्तु जन्म, देश और काल का अन्तर होने पर भी कर्मफल के अनुसार वासना उत्पन्न होने में कोई दिक्कत नहीं पड़ती अर्थात् किसी अन्य जन्म में किए गये कर्म का फल यदि इस जन्म में मिलना है, तो काल, जन्म और देश (स्थान) का अन्तर पड़ जाने पर भी उस कर्म के अनुसार वासना उत्पन्न होने में कोई अड़चन नहीं होती; क्योंकि स्मृति और संस्कार दोनों एक ही होते हैं। जिस कर्म फल को उत्पन्न करने वाला निमित्त कारण प्रकट हो जाता है, तदनुकूल ही वासना भी प्रकट हो जाती है। उदाहरणार्थ यदि किसी जीव को उसके पूर्व कृत कर्मफल भोगने के लिए गौ का शरीर मिलने वाला है, तो उसने पूर्व में गौ का शरीर जब कभी भी प्राप्त किया है तब उसकी वासना इस जन्म में प्रकट हो जायेगी। तात्पर्य यह है कि उस जन्म के बाद बीच में चाहे जितने जन्म अन्य योनियों में क्यों न हो चुके हों, फिर भी इस जन्म में उस जन्म की (अर्थात् यदि ४ जन्म पहले गौ का शरीर रहा है और अब फिर गौ का शरीर मिला है, तो ४ जन्म पूर्व की गौ योनि की) वासनाएँ प्रकट हो जाएँगी। स्मृति एवं संस्कारों के ऐक्य होने से जो फल मिलता है, तदनुकूल ही स्मृति अर्थात् भोग वासना उत्पन्न हो जाती है॥ ९॥

अब अगले सूत्र में इस शंका का समाधान किया जा रहा है कि यदि कर्म के अनुसार वासना उत्पन्न होती है और वासना के अनुसार ही जन्म मिलता है, तो सबसे पूर्व का जन्म किस प्रकार हुआ? उसके पूर्व तो कोई कर्म और वासना न रही होगी —

(१७१) तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥ १०॥

सूत्रार्थ— तासाम् = उनकी (उन वासनाओं की), अनादित्वम् = अनादिता है, आशिषः नित्यत्वात् = प्राणी के स्वयं बने रहने (जीवित रहने) की इच्छा (प्रार्थना) नित्य अर्थात् अनादिकाल से होने के कारण, च = और (ही है)।

व्याख्या— समस्त शरीरधारी जीव यही आकांक्षा रखते हैं कि हम सदैव बने रहें, कभी विनष्ट न हों तथा हमारी सुख-सुविधाएँ सदा बनी रहें। जीव की सतत इच्छा (आशीः) अथवा आशीर्वाद **'मा न भूवं भूयासम्'** अर्थात् **'मैं न होऊँ, ऐसा न होकर, मैं सदा विद्यमान रहूँ'** यह भाव निरन्तर देखा जाता है अथवा जीव की आन्तरिक प्रार्थना अपने अस्तित्व के सन्दर्भ में सदा बनी रहती है। यह आशीर्वाद अथवा आन्तरिक प्रार्थना ही वासना का मूल कारण है। चूँकि यह प्रार्थना अथवा आशीष नित्य (सदा होते रहने वाला) है, अतः उससे उत्पन्न वासनाएँ भी नित्य अथवा अनादि हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि प्रत्येक जीव मृत्यु के दुःख से भयभीत रहता है, इसी कारण तुरन्त जन्म लेने वाले बच्चे में भी मरने का भय देखा जाता है। इसी कारण उसके चेहरे पर विकृत चिह्न, भय, कम्प आदि होते हैं। इन सबसे उसके पूर्व जन्म के राग-द्वेष एवं मृत्यु के समय होने वाले त्रास का आभास मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि सभी वासनाएँ अनादि हैं। उपर्युक्त उदाहरण में किसी को यह आशंका हो सकती है कि जो शिशु तुरन्त जन्मा है, उसकी मुखाकृति का विकृत होना अस्वाभाविक है; किन्तु यह बात उचित प्रतीत नहीं होती; क्योंकि शीघ्र जन्में बालक (शिशु) ने वर्तमान जन्म में तो किसी तरह भी मृत्यु के दुःख का अनुभव नहीं किया होता है; किन्तु फिर भी मृत्यु का दुःख यह आभास कराता है कि इससे पूर्व के जीवन में मृत्यु अवश्य हुई है। वर्तमान जन्म से पूर्व कितनी बार जीवन व मृत्यु हुई है, यह जानना असम्भव है, अतः इसे अनादि कहा जाता है। मरण का दुःख वस्तुतः आत्मा को नहीं, चित्त को हुआ करता है और चित्त अनादि वासनाओं से आवद्ध है, अतः वासनाओं का अनादि होना सिद्ध है॥ १०॥

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि वासनाएँ अनादि हैं तब उनका अभाव (विनाश) होना सम्भव नहीं और वासनाओं के रहते मुक्ति कैसे सम्भव है ? यह अगले सूत्र में प्रतिपादित कर रहे हैं-

(१७२) हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः ॥ ११ ॥

सूत्रार्थ— हेतुफलाश्रयालम्बनैः = हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन के द्वारा; संगृहीतत्वात्= वासनाएँ संगृहीत होती हैं, इसलिए; एषाम्= इन (चारों) का, अभावे= अभाव होने से, तदभावः= उनका भी (वासनाओं का भी पूर्ण रूपेण) अभाव हो जाता है।

व्याख्या— हेतु, फल, आश्रय एवं आलम्बन के द्वारा वासनाएँ संगृहीत रहती हैं और जब इन हेतु आदि का अभाव हो जाता है, तब वासनाएँ भी विनष्ट हो जाती हैं। अब उपर्युक्त चारों को क्रमशः इस प्रकार समझा जा सकता है। इनमें अविद्या आदि क्लेश तथा कृष्ण-शुक्ल आदि कर्म (जिनका वर्णन पीछे किया जा चुका है) वासनाओं के हेतु हैं। इन्हीं के कारण वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। जाति (पुनर्जन्म), आयु एवं भोग ये वासनाओं के फल हैं। चित्त इन वासनाओं का आश्रय है। इन्द्रियों के शब्द आदि विषय (वासनाओं के) आलम्बन हैं। इन्हीं के सम्बन्ध से वासनाएँ संगृहीत होती रहती हैं और वासनाओं का अस्तित्व बना रहता है; किन्तु जब इन चारों का अभाव हो जाता है, तब वासनाएँ भी विनष्ट हो जाती हैं। योग साधना में प्रवृत्त साधक जब समाधि साधना से तत्त्वज्ञान (विवेक ख्याति स्थिति) प्राप्त कर लेता है, तब अविद्या आदि क्लेश जो वासना के हेतु हैं, विनष्ट हो जाते हैं। जब अविद्या नष्ट हो जाती है और आत्म ज्ञान हो जाता है, तब मात्र प्रारब्ध कर्म भोग हेतु ही जीवन चालू रहता है। ऐसी स्थिति में योगी कृष्ण कर्म (पाप कर्म) तो कर नहीं सकता और शुक्ल कर्म (पुण्य कर्म) शीघ्र फलदायी नहीं रहते। ऐसी स्थिति में चित्त अपने कारण में विलीन हो जाता है, फलतः पुरुष का विषयों से कोई संबंध नहीं रह जाता। इस प्रकार हेतु, फल, आश्रय और आलम्बन का अभाव हो जाता है, जिसके फलस्वरूप वासनाएँ भी नहीं रहतीं। वासनाएँ समूल नष्ट हो जाने से योगियों का पुनर्जन्म नहीं होता। उनको मोक्ष प्राप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

अब प्रश्न उठता है कि जब किसी सत् वस्तु का विनाश नहीं होता, तब वासना और उसके हेतु किस प्रकार विनष्ट हो सकते हैं ? इसी का वर्णन आगे करते हैं—

(१७३) अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्॥ १२॥

सूत्रार्थ— धर्माणाम् = धर्मों में, अध्वभेदात् = काल का भेद होने से, अतीतानागतम् = जो धर्म (अविद्या, वासना, चित्त और उसकी वृत्तियाँ) विगत (अतीत) हो चुके हैं और अनागत हैं अर्थात् अभी प्रकट नहीं हुए हैं, वे भी; स्वरूपतोऽस्ति = स्वरूप से बने रहते (विद्यमान रहते) हैं।

व्याख्या— सत् वस्तु कभी विनष्ट नहीं होती, अतः वासनाएँ और उनके हेतु कभी विनष्ट नहीं होते; वरन् उनका अभाव हो जाता है। तात्पर्य यह है कि ये अपनी वर्तमान अवस्था का परित्याग कर भूत अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं। धर्मी में धर्म सदैव विद्यमान रहते हैं, जो अनागत स्थिति में अपना कार्य प्रकट नहीं करते; वरन् वर्तमान स्थिति में अपना कार्य प्रकट करते हैं। जब कार्य बन्द हो जाता है, तब ये अतीत अवस्था में पहुँच जाते हैं। अतीत-अनागत अवस्था में अपने कारण में विलीन हो जाते हैं, व्यक्त नहीं रहते हैं। अपने कारण में लीन हो जाना ही उनका अभाव है। अपने कारण में विलीन हो जाने के कारण उन वासनाओं से योगी का सम्बन्ध टूट जाता है, जिसके कारण उसका पुनर्जन्म नहीं होता। किसी वस्तु का अभाव हो जाना वस्तुतः उसका नाश होना नहीं है; क्योंकि अभाव भी पाँच प्रकार का है- **१. प्रागभाव**- उत्पत्ति के पूर्व अभाव- किसी वस्तु के उत्पन्न होने से पूर्व उस वस्तु का न होना 'प्राक्-अभाव' है। **२. प्रध्वांसाभाव—** विद्यमान वस्तु का ध्वंस हो जाने से जो अभाव होता है, वह प्रध्वांसाभाव कहलाता है।

जैसे- गिरकर किसी वस्तु का टूट जाना आदि। **३. अन्योन्याभाव**- किसी वस्तु का किसी स्थान विशेष से दूर हो जाना अन्योन्याभाव कहलाता है, जैसे- घर में वस्त्र न होना। इसमें वस्त्र का सम्पूर्ण अभाव नहीं है; वरन् घर में वस्त्र नहीं है। यह अभाव अन्योन्याश्रित है। **४. अत्यन्ताभाव—** किसी वस्तु का पूरी तरह से अभाव होना अत्यन्ताभाव कहलाता है। जैसे- वन्ध्या के पुत्र न होना अर्थात् उसके न पुत्र हुआ है और न हो ही सकता है। **५. सामयिकाभाव**- कुछ अभाव सामयिक होता है,पूर्णतः नहीं होता, वह सामयिक अभाव है। जैसे- घड़े का एक स्थान से दूसरे स्थान पर चले जाना। इसमें घट का विनाश नहीं होता, पर कुछ समय के लिए वह वहाँ पर नहीं होता। अस्तु, इस सूत्र में वासनाओं के जिस अभाव का वर्णन है, वह पूर्णतः अभाव नहीं हैं; वरन् विगत अवस्था में उनके अव्यक्त हो जाने से उत्पन्न अभाव है, जिसमें वे अपना कार्य समाप्त कर देती हैं॥१२॥

अब धर्मों के वास्तविक स्वरूप का वर्णन करते हैं—

(१७४) ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मानः ॥ १३॥

सूत्रार्थ— ते = वे (सभी धर्म), व्यक्तसूक्ष्माः = व्यक्त और सूक्ष्म (अव्यक्त) स्थिति में सदा, गुणात्मानः = गुणात्मक (अर्थात् गुण स्वरूप) ही हैं।

व्याख्या— धर्मी में धर्म सदा विद्यमान रहते हैं। ये धर्म तीन पथ वाले होते हैं। १. अतीत (जो बीत चुके) २. वर्तमान (जो अभी विद्यमान हैं) ३. अनागत (जो अभी होने वाले हैं)। तात्पर्य यह है कि वर्तमान मार्ग में धर्म प्रकट रहने वाले होते हैं तथा अतीत और अनागत में अप्रकट रहने वाले होते हैं। ये समस्त धर्म महत्तत्त्व से स्थूल भूतों तक तीनों गुणों के परिणाम स्वरूप होते हैं। वास्तव में स्थिति यह है कि सभी पदार्थ महत्तत्त्व से पंचभूतों तक गुणों का सन्निवेश मार्ग होते हैं, अतः सभी गुण स्वरूप हैं। अभिप्राय यह है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश-ये (स्थूल) पञ्चभूत, पञ्च तन्मात्रा (सूक्ष्म विषय) गन्ध, रस, रूप, शब्द और स्पर्श स्वरूप हैं। पञ्च तन्मात्राएँ एवं ग्यारह इन्द्रियाँ अहंकार स्वरूप हैं। इसी प्रकार अहंकार महत्तत्त्व स्वरूप तथा महत्तत्त्व मूल प्रकृति स्वरूप है। मूल प्रकृति तीनों गुणों के रूप में है। इस प्रकार यह सब कुछ गुणत्रय स्वरूप है। गुणों का वास्तविक स्वरूप दिखाई नहीं पड़ता। जो दीखता है, वह विनाशी है। अस्तु, ये सभी कार्य गुणत्रय स्वरूप अपने कारण (मूल प्रकृति) रूप ही हैं॥ १३॥

गुणों के कार्य होने से सम्पूर्ण पदार्थ गुण स्वरूप ही हैं, तब अलग-अलग स्वभाव वाले तीनों गुणों के समन्वय से पृथक्-पृथक् वस्तु किस प्रकार उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक गुण से अलग-अलग वस्तुएँ होनी चाहिए थीं। इसे ही अगले सूत्र में स्पष्ट करते हैं —

(१७५) परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्॥ १४॥

सूत्रार्थ— परिणामैकत्वात् = परिणाम में एकत्व होने से, वस्तुतत्त्वम् = वस्तु का उस तरह का होना सम्भव है।

व्याख्या— यद्यपि अनेक गुणों का स्वभाव परस्पर भिन्न-भिन्न होता है, तथापि परिणाम एक ही होता है। सभी तत्त्व मिलजुल कर जब किसी एक वस्तु के स्वरूप में बदल जाते हैं, तब उस प्रकार का होना कोई कठिन नहीं है। प्रत्यक्ष लोक व्यवहार में भी विभिन्न वस्तुओं के सम्मिलन से एक वस्तु का प्रकट होना भी देखा जाता है। यथा-बत्ती, तेल और अग्नि-ये सभी अलग-अलग वस्तुएँ हैं; किन्तु इन सभी का सम्मिलित परिणाम एक दीपक के रूप में सामने आता है। जिस भूमि पर नमक पड़ा है, वहाँ प्रक्षिप्त हाथी की हों या घोड़े की, दोनों की अस्थियों का परिणाम नमक ही होता है। इसी प्रकार पृथ्वी, जल तथा सूर्य-चन्द्र की किरणें मिलकर वृक्ष के रूप में परिणत हो जाती हैं, तब इसमें भिन्न-भिन्न जाति, भिन्न-

भिन्न आकार तथा भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व का भेद हो जाता है। फिर भी वास्तव में सभी अपने धर्मियों से अलग नहीं हैं। इस प्रकार समस्त पदार्थ, वस्तुएँ गुण स्वरूप हैं। उनसे पृथक् नहीं हैं॥ १४॥

अब अगले सूत्र में बताते हैं कि जिस तरह स्वप्नावस्था में चित्त से ही सब कल्पित होते हैं। इसी तरह जागृति की स्थिति में भी चित्त से पृथक् कोई अन्य वस्तु नहीं रहती। जो कुछ भी हो चित्त की ही रचना है और चित्त अनादि वासनाओं से संचालित है। यही कारण है कि उसे अपनी वासनाओं के अनुरूप भिन्न-भिन्न वस्तुएँ दृष्टिगोचर (प्रतीत) होती हैं। वस्तुतः चित्त से भिन्न-बाह्य जगत् में अन्य कोई वस्तु नहीं है—

(१७६) वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ॥ १५॥

सूत्रार्थ— वस्तुसाम्ये = वस्तु के एकत्व में (भी), चित्तभेदात् = चित्त का भेद प्रत्यक्ष होने से, तयो: = इन दोनों (चित्त और उसके द्वारा दर्शित वस्तु)का, पन्था: = मार्ग, विभक्त: = पृथक्-पृथक् है।

व्याख्या— यदि वस्तु एक है, तो भी मनुष्य की चित्त-वृत्तियाँ विभिन्न प्रकार से बनती हैं अर्थात् एक ही विषय में मनुष्य की विभिन्न चित्त-वृत्तियाँ बनती हैं। जैसे-एक सुन्दर युवती को विभिन्न व्यक्ति देखते हैं, तो स्थिति भेद से उन्हें सुख-दु:ख और मोह आदि की अनुभूति होती है। इस उदाहरण में यदि कोई कामी पुरुष स्त्री को देखे और उसे वह मिल जाये, तो उसे सुख की अनुभूति होती है। यदि उस स्त्री की मृत्यु हो जाये, तो उस (कामी) व्यक्ति को मोहवश दु:ख होता है। यदि कोई संन्यासी उस स्त्री की मौत को देखे, तो संसार के प्रति उदासीनता का भाव उत्पन्न होता है। तात्पर्य यह है कि एक ही विषय (स्त्री) के संदर्भ में विभिन्न व्यक्तियों की अलग-अलग धारणाएँ हुईं। अत: स्पष्ट है कि स्त्री आदि विषय चित्त के कार्य नहीं हैं। यदि एक चित्त के कार्य हों, तो उससे सम्बंधित ज्ञान भी एक ही प्रकार का हो। यदि वस्तु (या विषय) को चित्त का ही कार्य मानें, तो समस्या यह खड़ी होगी कि जिस पुरुष के चित्त का कार्य वह वस्तु होगी, यदि उसका चित्त किसी अन्य वस्तु में लग गया, तो पूर्व वस्तु का अस्तित्व ही न रहेगा। परन्तु ऐसा होता नहीं है; क्योंकि अन्य पुरुषों को तो वह वस्तु दिखाई देती रहती है। यदि यह मानें कि बहुत से चित्तों से मिलकर एक वस्तु उत्पन्न होती है, तब प्रश्न यह खड़ा होगा कि बहुत चित्तों की बनाई वस्तु व एक चित्त द्वारा बनाई वस्तु में विलक्षणता होगी। यदि विलक्षणता नहीं मानें, तो कारण पृथक् होने पर कार्य एक कैसे माने जा सकते हैं? यदि कारण भिन्न होने पर भी कार्य समान मानें, तो सम्पूर्ण संसार जो अनेक कारणों से उत्पन्न हुआ है, उसे एकाकार मानना पड़ेगा अथवा जब कारण और कार्य में कोई सम्बन्ध न होगा; इस स्वातन्त्र्य के कारण उसे शून्य मानना होगा, पर ऐसा है नहीं। अत: स्पष्ट है कि चित्तों के भेद से वस्तु में कोई अन्तर नहीं पड़ेगा॥ १५॥

पूर्व पक्ष का खण्डन करने के लिए अब पुनः दूसरा सूत्र कहते हैं —

(१७७) न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्॥ १६॥

सूत्रार्थ— च = इसके अलावा, वस्तु = दृश्य वस्तु, एकचित्ततन्त्रम् = किसी भी एक चित्त के अधीन,न = नहीं है, कारण यह है कि; तदप्रमाणकम् = जब वह चित्त का विषय न रह पायेगी; तदा = उस समय; किं स्यात् = उस वस्तु का क्या होगा?

व्याख्या— दिखाई देने वाली वस्तु का अस्तित्व चित्त के कारण है या नहीं, सर्वप्रथम यह विषय-विचारणीय है। चित्त वस्तु का ज्ञान कराने वाला है या उत्पन्न करने वाला? इस तथ्य पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि प्रत्येक वस्तु अपने कारण से उत्पन्न हुई है, उस कारण के भी अनेक घटक होते हैं और चित्त उनमें कोई घटक नहीं है। वह तो मात्र वस्तु का ज्ञान कराता है, उसका ज्ञापक है, तो यह ज्ञापक किसी एक चित्त के अधीन है या अनेक चित्तों के अधीन है, यह जानना

आवश्यक है। यदि (वस्तु के अस्तित्व-ज्ञान को) एक चित्त के अधीन माना जाये, तो समस्या यह खड़ी होगी कि एक चित्त जो कुछ समय पूर्व किसी वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान प्राप्त कर रहा था। वह जब किसी अन्य विषय में लग गया, तो कुछ समय पूर्व दर्शित वस्तु का क्या होगा? क्या अन्य लोगों को उस वस्तु का ज्ञान न हो पायेगा? पर देखा जाता है कि अन्य लोगों को उस वस्तु के अस्तित्व का ज्ञान होता रहता है। अतः किसी एक चित्त के अधीन किसी वस्तु को नहीं माना जा सकता। यदि वस्तु के अस्तित्व को अनेक चित्तों के अधीन मानें, तो फिर किसी एक चित्त को उस वस्तु की प्रतीति नहीं होनी चाहिए, पर होती रहती है। इस विकल्प में एक कठिनाई यह भी होगी कि उन अनेक चित्तों की संख्या कितनी हो। अस्तु, यह स्पष्ट हुआ कि वस्तु का अस्तित्व उसके अपने कारणों पर आश्रित है, चित्त पर नहीं। ऐसी स्थिति में जिस काल में चित्त के द्वारा वस्तु का ज्ञान होता है, उसके अतिरिक्त काल में वस्तु के अस्तित्व को क्या प्रामाणिक नहीं माना जायेगा? अवश्य माना जायेगा; क्योंकि जब तक वस्तु के कारण घटक हैं, तब तक किसी भी अन्य कारण (चित्त आदि) से वस्तु के अस्तित्व को चुनौती देना उचित नहीं है॥ १६॥

अगले सूत्र में बताते हैं कि जब दृश्य वस्तु की सत्ता स्वतंत्र है, तब वह किस कारण से कभी दिखती और कभी नहीं दिखती है—

(१७८) तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥ १७॥

सूत्रार्थ— चित्तस्य = चित्त के, वस्तु = बाह्य पदार्थ, ज्ञाताज्ञातम् = इसलिए ज्ञात और अज्ञात रहते हैं। (कभी दिखाई पड़ते हैं, कभी नहीं दिखाई पड़ते); क्योंकि, तद् उपरागापेक्षित्वात् = चित्त उस बाह्य वस्तु के उपराग की (अपने में उस वस्तु का प्रतिबिम्ब पड़ने की) अपेक्षा वाला है।

व्याख्या— चित्त और इन्द्रियों में परस्पर सम्बन्ध रहता है। अतः इन्द्रियों के संबंध से चित्त पर जिस वस्तु (विषय या पदार्थ) की परछाईं पड़ती है, उसी वस्तु का ज्ञान चित्त को होता है, इससे भिन्न वस्तुओं का ज्ञान चित्त को नहीं हो पाता। इन्द्रियों के सम्बन्ध से चित्त पर वस्तु की परछाईं पड़ने की जो प्रक्रिया है, उसे ही वस्तु का चित्त के प्रति उपराग कहते हैं। वस्तु और विषय चुम्बक के समान होते हैं। जिस प्रकार चुम्बक अपने सम्पर्क क्षेत्र के लौह कणों को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार वस्तु और विषय चित्त को अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। जो वस्तु विषय जिस समय चित्त को अपनी ओर आकर्षित करके उसे अपने उपराग से युक्त करता (अपने चुम्बकत्व से जोड़ लेता) है, वह ज्ञात हो जाता है और जिस समय जो वस्तु या विषय चित्त-वृत्ति का विषय नहीं बनता अर्थात् चित्त उसमें उपरञ्जित नहीं होता, उस समय वह वस्तु या विषय अज्ञात रहता है। इस तथ्य से स्पष्ट है कि ज्ञात और अज्ञात होने के कारण चित्त परिणामी (परिवर्तनशील) है॥ १७॥

इस प्रकार अब तक दृश्य वस्तुओं से चित्त की भिन्नता सिद्ध हुई। अब पुरुष (द्रष्टा पुरुष) भी चित्त से भिन्न है, यह विवेचन किया जा रहा है —

(१७९) सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्॥ १८॥

सूत्रार्थ— तत्प्रभोः = उसके (चित्त के) प्रभु (स्वामी), पुरुषस्य = पुरुष के, अपरिणामित्वात् = अपरिणामी होने से, चित्तवृत्तयः = चित्त की वृत्तियाँ, सदा ज्ञाताः = सदैव ज्ञात रहती हैं।

व्याख्या— जब चित्त का बाह्य जगत् की वस्तुओं के साथ सम्बन्ध होता है, तब उन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त होता है; परन्तु सम्बन्ध न रहने पर वे ही वस्तुएँ अज्ञात हो जाती हैं। किसी समय वह बाह्य वस्तुओं को जानता है और किसी समय नहीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि चित्त परिणामी (परिवर्तनशील) है। चित्त का कार्य है कि उसका संबंध जिस वस्तु के साथ रहता है, उसी के स्वरूप में स्वयं परिणत होकर

व्याख्या— जब बाह्य पदार्थ का चित्त में प्रतिबिम्ब पड़ता है, तब द्रष्टा (पुरुष-आत्मतत्त्व) उस प्रतिबिम्ब के साथ चित्त का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, यह तथ्य युक्ति संगत है। कारण यह है कि द्रष्टा (आत्म तत्त्व) अपरिणामी है; किन्तु चित्त एक ही काल में अपने स्वरूप और पदार्थ के स्वरूप दोनों को नहीं जान सकता। इसमें कारण यह है कि चित्त परिणामी (परिवर्तनशील) है, अतः एक ही समय में वह दो को देखकर कैसे ज्ञान प्राप्त कर सकता है? जो परिवर्तनशील है, वह एक समय में एक को ही देख सकता है। अतः इस तथ्य से यह स्पष्ट है कि चित्त स्वप्रकाश नहीं है। वह अपने स्वामी द्वारा प्रकाशित है, अथवा इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि चित्त मात्र बाह्य पदार्थ का स्वरूप अपने स्वामी द्रष्टा पुरुष (आत्म-तत्त्व) के समक्ष प्रस्तुत कर देता है, तत्पश्चात् उसे जानने का कार्य पुरुष करता है॥ २०॥

यदि यह माना जाये कि 'एक चित्त से विषय का साक्षात्कार किया जाता है और दूसरा चित्त विषय सहित पहले चित्त को देखता है। इस प्रकार चित्त और विषय दोनों का एक साथ ही ज्ञान हो जाता है' तो क्या हानि है? इस सूत्र में इसी का प्रतिपादन कर रहे हैं—

(१८२) चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसंकरश्च॥ २१॥

सूत्रार्थ— चित्तान्तरदृश्ये = यदि चित्त को दूसरे का दृश्य मान लिया जाये तो, बुद्धिबुद्धेः = उस दूसरी बुद्धि के ज्ञान से, अतिप्रसङ्गः = ऐसी स्थिति में अति प्रसङ्ग (अनवस्था) दोष होगा, च = तथा, स्मृति संकरः = स्मृति मिश्रण होने से अव्यवस्था उत्पन्न हो जायेगी।

व्याख्या— यदि एक चित्त (बुद्धि) को दूसरे चित्त (ज्ञान) का दृश्य मान लिया जाये, तो उसमें दो प्रकार की विसंगतियाँ उत्पन्न होंगी। प्रथम तो अनवस्था दोष होगा और दूसरा स्मृतियों का मिश्रण हो जाने से कोई अर्थ न निकल सकेगा। कारण यह है कि यदि इसमें एक चित्त ने किसी विषय का ज्ञान प्राप्त किया, तो दूसरे चित्त ने उसे सविषय (विषय सहित) जाना। इसी प्रकार से दूसरे चित्त को तीसरे चित्त ने, तीसरे को चौथे ने, का क्रम निरन्तर चलता ही रहेगा और एक वस्तु अथवा विषय का ज्ञान कभी हो ही नहीं पायेगा। इससे अनवस्था दोष उत्पन्न हो जायेगा। इसी प्रकार इस क्रम में अनेकविध ज्ञानों की एक साथ ही स्मृति होने से यह निश्चय न हो सकेगा कि किस ज्ञान (वस्तु) का क्या स्वरूप है? क्योंकि जितनी बुद्धियों का अनुभव होगा; उतनी ही स्मृतियाँ होंगी। यह धारणा सुनिश्चित न हो सकेगी कि यह स्मृति किसकी है? दूसरी कठिनाई यह होगी कि अमुक वस्तु का ज्ञान मैंने प्राप्त किया है, यह सभी कहते हैं। यह कोई न कहेगा कि अमुक वस्तु के ज्ञान को फिर उसके ज्ञान सहित ज्ञान को फिर उसके भी ज्ञान सहित ज्ञान को मैंने प्राप्त किया आदि-आदि। इस प्रकार कई कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी। अस्तु, चित्त के अतिरिक्त द्रष्टा (पुरुष-आत्मतत्त्व) को मानना ही उचित है॥ २१॥

उपर्युक्त सूत्र से स्पष्ट होता है कि चित्त स्वप्रकाश नहीं है तथा अन्य चित्त का विषय भी नहीं है, ऐसी स्थिति में उसका द्रष्टा 'पुरुष' (आत्मतत्त्व) प्रतीत होता है; किन्तु इस मान्यता में भी कठिनाई यह है कि पुरुष तो असङ्ग और विकार रहित अर्थात् सङ्ग रहित और अपरिणामी है। किसी भी विषय को ग्रहण करने में क्रिया एवं परिणाम दोनों आवश्यक होते हैं और पुरुष (आत्मतत्त्व) में ये दोनों नहीं हैं। अतः वह किसी का द्रष्टा और भोक्ता दोनों नहीं हो सकता, इसी विषय को अगले सूत्र में प्रतिपादित कर रहे हैं—

(१८३) चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्॥ २२॥

सूत्रार्थ— चितेः अप्रति संक्रमायाः = चेतन शक्ति (पुरुष-आत्मतत्त्व) क्रिया रहित और असङ्ग है, तो भी; तदाकारापत्तौ = तदाकार (बुद्धिरूप) हो जाने की स्थिति में; स्वबुद्धिसंवेदनम् = अपनी बुद्धि (चित्त) का ज्ञान हो जाता है।

मुझे ज्वर आ गया है, मुझे अतिसार हो गया है आदि; किन्तु इन्हें आत्मा से पृथक् जानने पर फिर यह भाव समाप्त हो जाता है।

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में बहुत-सी ओषधि-वनस्पतियाँ उग आती हैं, तब उनके बीज पृथ्वी में पहले से होने का अनुमान सहज ही हो जाता है, उसी प्रकार मोक्ष सम्बंधी कथा-प्रवचन आदि सुनने पर योगी को रोमाञ्च हो जाता है तथा भावोद्गार प्रकट होने पर अश्रुपात आदि होने लगता है। इस सबसे उसके पूर्व जीवन के विषय में यह अनुमान हो जाता है कि इसने पूर्व जन्म में मोक्षादि के लिए साधना अवश्य की होगी। इसके अन्दर वर्तमान जीवन में अपवर्ग (मोक्ष) प्राप्त करने का बीज विद्यमान है।

जिनके अंदर ऐसे बीज नहीं रहते, उनके अन्दर मोक्ष मार्ग के विपरीत भाव उत्पन्न होते हैं। उनके पूर्व पक्ष (पूर्व जन्म-पुनर्जन्म) में अरुचि अर्थात् पूर्वजन्म-पुनर्जन्म का कोई अस्तित्व नहीं है। कर्म फल कुछ मिलता ही नहीं, मैं कौन था? कैसे था? आगे क्या होगा? हम क्या होंगे? आदि पर विश्वास नहीं रहता। अत: वे सोचते हैं कि संसार में जिस प्रकार भी हो, मजे से रहो; किन्तु जिनके अन्दर मोक्ष के बीज विद्यमान रहते हैं। वे ईश्वरीय सिद्धांत में रुचि रखते हुए अध्यात्म पथ पर चलते रहते हैं; क्योंकि वे शुद्ध आत्म स्वरूप में अवस्थित हो जाते हैं॥ २५॥

सूत्रकार उस समय (स्वरूप में स्थिति के समय) के चित्र की स्थिति का अगले सूत्र में विवेचन कर रहे हैं—

(१८७) तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ २६॥

सूत्रार्थ — तदा = तब (उस समय); चित्तम् = चित्त (योगी का), विवेकनिम्नम् = विवेक मार्ग में झुका हुआ (संचारी होकर), कैवल्यप्राग्भारम् = कैवल्य की ओर अभिमुख हो जाता है।

व्याख्या— जब अज्ञान अवस्था रहती है, तब मनुष्यों का चित्त साधरणतया अविवेक के कारण विषयाभिमुख रहता है; किन्तु जब 'विवेक-ज्ञान' का उदय हो जाता है, तब साधक (योगी) के चित्त का प्रवाह असार संसार के विषयों की ओर न बहकर कैवल्य की ओर अभिमुख अर्थात् प्रवाहित होने लगता है। इस सूत्र में 'प्राग्भार' शब्द का अभिप्राय 'ऊँचे स्थान' से है, जिसे बाँध कहा जाता है अर्थात् जब चित्त वृत्तियाँ संसार की अधोगामिता से रुककर ऊर्ध्वगामी बनती हैं, तब कैवल्यावस्था प्राप्त कर लेती हैं। तात्पर्य यह है कि योगी 'व्यवहार मात्र' के लिए सांसारिक कार्य करता हुआ भी संसार से प्रभावित नहीं होता और उसका चित्त अपने कारण में विलय की ओर उन्मुख हो जाता है; क्योंकि चित्त की अपने कारण में विलीन हो जाने की स्थिति अर्थात् स्वरूप में अवस्थिति को ही कैवल्य कहते हैं॥ २६॥

विवेक ज्ञान के रहते कैवल्योन्मुख चित्त जब अपने कारण में विलीन होने लगता है, तब लोकव्यवहार करते समय अर्थात् व्युत्थान की दशा में चित्त की वृत्तियाँ कैसी होती हैं? इसका वर्णन अगले सूत्र में किया जा रहा है—

(१८८) तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥ २७॥

सूत्रार्थ— तच्छिद्रेषु = विवेक पूर्ण चित्त के छिद्रों (अन्तराल)में; प्रत्ययान्तराणि = विवेक ज्ञान प्रवाह से भिन्न (पदार्थों का) ज्ञान होता रहता है; संस्कारेभ्य: = पूर्व संस्कारों से।

व्याख्या — समाधि के अन्तर्गत विवेकज्ञान में निमग्न चित्त को अपनी एवं आत्मा की पृथकता का भान पूर्ण रूपेण होता है, तदनुसार ही वह पूर्ण योगी की तरह व्यवहार करता है; किन्तु बीच-बीच में जरा-सी भी शिथिलता आने पर व्युत्थान के संस्कार जो अनादिकाल से बीज रूप में विद्यमान रहते हैं, वे जाग्रत् हो जाते हैं और ममता, अहंकार आदि की वृत्तियाँ पुनर्जाग्रत् होने के कारण वह ऐसा सोचने लगता है कि यह (शरीर) में हूँ, यह मेरा है, मैं दु:खी हूँ, मैं सुखी हूँ, मैं जानता हूँ, मैं नहीं जानता आदि; किन्तु

इन वृत्तियों के संस्कार परिणत नहीं हो पाते; क्योंकि ये मात्र प्रारब्ध कर्मों के भोगार्थ ही उभरती हैं। वह कर्मफल भोग लिए जाने पर न उसका प्रारब्ध शेष रहता है, न उसके संस्कार और न उससे सम्बंधित वृत्तियाँ। बीच-बीच में जिस काल में ये वृत्तियाँ जाग्रत् होती हैं, उसे अन्तराल कहते हैं। इसी अन्तराल काल को सूत्र में ''छिद्र'' शब्द से प्रतिपादित किया गया है। बीच-बीच में जिन वृत्तियों के उभरने से साधक सामान्य मनुष्यों जैसा व्यवहार करने लगता है, उन्हें ही सूत्र में प्रत्ययान्तराणि कहा गया है। इनका समूल विनाश तभी सम्भव होता है, जब 'विवेकख्याति' अत्यन्त परिपक्व स्थिति में पहुँच जाती है। भावार्थ यह है कि जब चित्त विवेक ज्ञान में पूर्ण रूपेण गहनता से निमग्न हो जाता है। ऐसी उच्च स्थिति प्राप्त होने पर वैराग्य दृढ़ हो जाता है, जिससे असम्प्रज्ञात समाधि की स्थिति प्राप्त होकर उसी में चित्त लय हो जाता है। जिससे संस्कारों के बीज (संचित संस्कार) योगाग्नि से दग्ध हो जाते हैं॥ २७॥

अब अगले सूत्र में बताते हैं कि इन सञ्चित संस्कारों का नाश कब और किस प्रकार होता है? —

(१८९) हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥ २८॥

सूत्रार्थ— एषाम् = इन (व्युत्थान) संस्कारों का, हानम् = नाश, क्लेशवत् = क्लेशों की तरह, उक्तम् = कहा गया है।

व्याख्या— इन व्युत्थान संस्कारों के नाश का उपाय बताते हुए सूत्रकार ने पूर्वोक्त अविद्यादि क्लेशों के नाश के उपायों के समान ही बताया है। ध्यातव्य है कि योगदर्शन के साधन पाद के दसवें सूत्र में अविद्या आदि पञ्चक्लेशों के निवारण के उपाय बताए गए हैं। उन्हीं उपायों से उन क्लेशों के नाश की तरह ही इन व्युत्थान के संस्कारों के बीज उसी प्रकार विनष्ट हो जाते हैं, जैसे बीज भून दिये जाने पर (बीज) दृश्यमान रहते हुए भी अंकुरण की सामर्थ्य से रहित होते हैं।

तात्पर्य यह है जब ज्ञानग्नि से संस्कार रूपी बीज भुन जाते हैं, तब चित्त अपने कारण (आत्मा) में विलीन होता जाता है। जब कार्य चित्त अपने कारण (आत्मा) में विलीन हो जाता है, तो उसके संस्कार भी अपने आधार चित्त में विलीन हो जाते हैं। जिसके कारण वे दग्ध होकर रहते हुए भी पुनर्जन्म के हेतु नहीं बन सकते। अतः उनके द्वारा जिन पदार्थों का ज्ञान होता है, उससे नये संस्कार नहीं बन सकते।

साधन पाद में पञ्च क्लेशों को दूर करने के लिए तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय आदि ऐसे उपाय बताए हैं, जिनसे ये क्लेश सर्वथा निष्क्रिय स्थिति में पहुँच जाते हैं। आचार्यों का मानना है कि व्युत्थान के संस्कारों को शिथिल करने हेतु ये ही सर्वोत्तम उपाय हैं॥ २८॥

विवेक ज्ञान परिपक्व होने के बाद अब अगले सूत्र में जीवन्मुक्त साधक की पराकाष्ठा स्वरूप धर्ममेघ समाधि का वर्णन किया जा रहा है—

(१९०) प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥ २९॥

सूत्रार्थ— प्रसंख्याने अपि अकुसीदस्य = विवेक ज्ञान (विवेक ख्याति) की महिमा में भी जिस योगी को विराग हो जाता है, उसको; सर्वथा विवेकख्यातेः = पूर्ण रूप से विवेकख्याति से (विवेक ज्ञान पूर्णरूपेण प्रकाशमान रहने से), धर्ममेघः समाधिः = धर्ममेघ नामक समाधि प्राप्त हो जाती है।

व्याख्या— इस सूत्र के प्रथम पद 'प्रसंख्यान' में 'प्र' और सम् उपसर्ग हैं तथा 'ख्यान' शब्द 'ख्याति' का पर्यायवाची है। अतः सम्पूर्ण पद-प्रसंख्यान का अर्थ विवेकख्याति या विवेक ज्ञान की वह उच्च अवस्था है, जिसमें वह सम्पूर्ण रूप से उभर आती है अर्थात् परिपक्व हो जाती है। 'कुसीद' शब्द का अर्थ 'सूद' या ब्याज से है। ब्याज प्रदत्तधन (दिये गये धन) के बदले में मिले अतिरिक्त धन को कहते हैं,

कारण बनता है। अकुसीद का तात्पर्य यहाँ विवेकख्याति दशा में भी राग-रहित होने वाले साधक से है। स्मरणीय है कि विवेकख्याति की स्थिति को सम्प्रज्ञात समाधि भी कहते हैं, जिसमें साधक का चित्त एकदम स्वच्छ, निर्मल हो जाता है, जिससे उसमें विलक्षण शक्ति आ जाती है और वह सर्वज्ञ, सब का अधिष्ठाता हो जाता है; किन्तु इतना समर्थ होकर भी जब वह इस स्थिति के प्रति भी 'अकुसीद' वैराग्य भाव से पूर्ण हो जाता है, तब उसके चित्त के सभी संस्कार भस्म हो जाते हैं। विवेक ज्ञान का प्रवाह निरंतर बहता रहता है और वह असम्प्रज्ञात समाधि अथवा असम्प्रज्ञात योग की स्थिति में पहुँच जाता है। इसी स्थिति का नाम धर्ममेघ समाधि है। इसकी पराकाष्ठा को 'पर-वैराग्य' कहते हैं। यह योग की सर्वोच्च स्थिति है। इस स्थिति को प्राप्त करके योगी आत्म-ज्ञान में रमण करते हुए जीवन्मुक्त हो जाता है तथा वर्तमान शरीर पूर्ण होने पर मोक्ष प्राप्त कर लेता है, तब शीघ्र ही देहान्तर की स्थिति नहीं बनती। पर-वैराग्य अवस्था का फल ही निर्बीज समाधि है, जिसका वर्णन समाधि पाद में किया जा चुका है॥ २९॥

अब धर्ममेघ समाधि का फल वर्णित करते हैं—

(१९१) ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥ ३०॥

सूत्रार्थ— ततः = उस (धर्ममेघ समाधि) से, क्लेशकर्मनिवृत्तिः = क्लेश और उसके मूलक कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है।

व्याख्या— योगी को धर्ममेघ समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाने पर उसके जो अविद्या आदि पाँच क्लेश हैं, वह समाप्त हो जाते हैं। साथ ही उस क्लेश के कारण रूप सभी प्रकार के (कृष्ण, शुक्ल और मिश्रित तीनों प्रकार के) कर्म क्षय हो जाते हैं, जिससे उनकी वासनाएँ (संस्कार) भी नष्ट हो जाती हैं। यह अवस्था होने पर योगी जीवन्मुक्त हो जाता है। अविद्या ही संसार का कारण है। जब वह नष्ट हो जाती है, तब कोई देह धारण नहीं करता। प्रारब्ध कर्म समाप्त हो जाने पर वर्तमान देह के समाप्त होते ही मोक्ष मिल जाता है। यही विदेह पद की प्राप्ति भी है। मूलतः कर्माशय ही आवागमन का कारण रूप होता है, कर्माशय की समाप्ति पर विदेह स्थिति प्राप्त हो जाती है और योगी कैवल्यावस्था में पहुँच जाता है॥ ३०॥

धर्ममेघ समाधि प्राप्त होने पर सभी क्लेशों व कर्मों से निवृत्ति हो जाने पर होने वाली स्थिति का सूत्रकार अगले सूत्र में वर्णन कर रहे हैं—

(१९२) तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥ ३१॥

सूत्रार्थ— तदा = तब (उस समय), सर्वावरणमलापेतस्य = जिसके सभी प्रकार के आवरण (पर्दे) और मल दूर हो चुके हैं, ऐसे; ज्ञानस्य = ज्ञान के, आनन्त्यात् = अनन्त (सीमा रहित) हो जाने से, ज्ञेयम् अल्पम् = जानने योग्य (ज्ञेय) पदार्थ अल्प प्रतीत होते हैं।

व्याख्या— जिस प्रकार आकाश में बादल होने पर सूर्य ढँक जाता है और उसका प्रकाश नगण्य-सा रह जाता है तथा बादलों के हट जाने से सर्वत्र प्रकाश ही प्रकाश फैल जाता है, उसी प्रकार ही सत्त्वगुण प्रधान चित्त प्रकाशमान होने पर भी रज-तम जनित अविद्या आदि पाँच क्लेशों तथा विविध वासनाओं के आवरण से ढँक जाता है, जिससे वह प्रकाशित नहीं हो पाता।

जब योगी को धर्ममेघ नामक समाधि की स्थिति प्राप्त हो जाती है, तब उसकी अविद्या आदि पाँच बाधाएँ, सकाम कर्मों की वासनाएँ जो आवरण रूप होकर सत्य चित्त के प्रकाशन में रुकावट डालती हैं, वे नष्ट हो जाती हैं, तब चित्त को असीम ज्ञान प्राप्त हो जाता है, जिससे जानने योग्य (ज्ञेय) कोई भी वस्तु अज्ञात नहीं रह जाती अर्थात् उसे सब कुछ (संसार के समस्त पदार्थ) तुच्छ मालूम पड़ते हैं। उस समय

सांसारिक पदार्थों की ऐसी स्थिति हो जाती है, जैसे- आकाश में खद्योत (जुगुनू)। योगी इस स्थिति पर बहुत ही आश्चर्यान्वित हो जाता है॥ ३१॥

योगी को धर्ममेघ समाधि द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान का परम प्रसाद मिल जाता है तथा क्लेश-कर्म आदि भी समूल नष्ट हो जाते हैं। तब प्रश्न यह उठता है कि प्राकृतिक स्वभाव व परिणामी स्वभाव वाले गुण (सत्, रज, तम) योगी को पुनर्जन्म क्यों नहीं दे पाते? इसी का वर्णन अगले सूत्र में कर रहे हैं—

(१९३) ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्॥ ३२॥

सूत्रार्थ— ततः = उसके (धर्ममेघ समाधि उदित होने के) पश्चात्, कृतार्थानाम् = अपना कार्य पूर्ण कर चुकने वाले; गुणानाम् = गुणों के, परिणामक्रमसमाप्तिः = परिणाम उत्पन्न करने वाले क्रम की समाप्ति हो जाती है।

व्याख्या— जब योगी धर्ममेघ समाधि प्राप्त कर लेता है, उसके क्लेश कर्म निवृत्त हो जाते हैं, सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब उसके लिए गुणों का कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता, अतः वे कृतकार्य हो जाते हैं। गुणों का प्रमुख कार्य निमित्त बनकर देह इन्द्रियादि उत्पन्न करना और प्रारब्धवश भोग (दुःख-सुख आदि) और अपवर्ग (मोक्ष) प्रदान करना है; किन्तु धर्ममेघ समाधि की स्थिति में सभी कामनाएँ-वासनाएँ समाप्त हो जाने और मोक्ष की स्थिति की प्राप्ति हो जाने से गुणों का कोई कार्य शेष नहीं बचता। अतः गुण अपना कार्य उस सिद्ध योगी के लिए पूर्ण कर चुके होते हैं। शेष मनुष्यों के लिए वे अपना कार्य [परिणाम उत्पन्न करने वाला, भोग-मोक्ष देने वाला] करते रहते हैं॥ ३२॥

अब सहज जिज्ञासा उठती है कि पूर्व सूत्र में वर्णित 'परिणामक्रम समाप्तिः' पद में 'क्रम' का अभिप्राय क्या है? इसी को अगले सूत्र में बताते हैं—

(१९४) क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥ ३३॥

सूत्रार्थ— क्षणप्रतियोगी = जो क्षणों का प्रतियोगी (तथा), परिणामापरान्त निर्ग्राह्यः = परिणाम के अंत में जिसका स्वरूप समझा जाता है; क्रमः = वह क्रम है।

व्याख्या— समय का सबसे न्यून अंश क्षण है। इस प्रकार क्षणों का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। एक के बाद दूसरा क्षण, दूसरे के बाद तीसरा, तीसरे के बाद चौथा क्षण, यह क्रम अनवरत चलता रहता है। किसी वस्तु का रूप जब एक से दूसरे रूप में बदलता रहता है, तब अन्ततः वह जीर्ण (पुरानी) हो जाती है। परन्तु उसका यह परिणाम एक क्षण या एक घड़ी में सम्पन्न नहीं हो जाता, वरन् प्रतिक्षण बदलते-बदलते वह स्थिति बन पाती है। उस वस्तु का दूसरा परिणाम (यथा-नये से पुराना होना) देखकर यह अनुमान किया जा सकता है कि यह परिवर्तन एक साथ नहीं हो गया, वरन् प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहा है, तब आज यह स्थिति बनी है। जैसे कोई नया वस्त्र व्यवस्थित करके बक्से में रख दिया जाने पर कालान्तर में ज्यों का त्यों (अप्रयुक्त) निकाल लेने पर जीर्ण रूप में दिखाई देता है, उसके धागे कमजोर हो जाते हैं तथा वह शीघ्र ही फटने की स्थिति में आ जाता है। यह परिणाम देखकर अनुमान होता है कि यह एक दिन में ही नहीं हो गया, वरन् परिवर्तन का क्रम निरन्तर चलता ही रहा है। चूँकि परिवर्तन के इस क्रम का अनुमान परिणाम देखने पर लगता है, इसीलिए इस (क्रम) को 'परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य' कहा गया है। साथ ही क्षणों का प्रतियोगी अथवा विभाजक होने से इसे 'क्षणप्रतियोगी' भी कहा गया है। परिणाम क्रम का अस्तित्व गुणों के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाले 'महत्' आदि में देखा जा सकता है। इसी की सीमा में वस्तु के उद्भव और अवसान के रूप में परिणाम का क्रम चलता रहता है। अपरिणामी (पुरुष) में परिणाम क्रम की कल्पना नहीं करनी चाहिए॥ ३३॥

(१९५) पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ ३४॥

सूत्रार्थ— पुरुषार्थशून्यानाम् = पुरुषार्थ से शून्य हो गये हैं [अर्थात् जिनका पुरुष (आत्मा) के लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा] ऐसे; गुणानाम् = गुणों का, प्रतिप्रसवः = अपने कारण में लीन हो जाना (कैवल्य है); वा = अथवा; चितिशक्ति : = चिति शक्ति (द्रष्टा) का; स्वरूपप्रतिष्ठा = अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना; कैवल्यम् = कैवल्य है; इति = ऐसा (इस पाद अथवा शास्त्र का समाप्ति सूचक शब्द)।

व्याख्या— गुणों की प्रवृत्ति पुरुष के भोग (सांसारिक भोग) और अपवर्ग (मोक्ष) के सम्पादन के निमित्त हैं (इन्हीं को शास्त्रों में पुरुषार्थ चतुष्टय-धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कहा गया है)। इसी कार्य के सम्पादन हेतु वे गुण बुद्धि, अहंकार, तन्मात्रा, मन, इन्द्रियों एवं शब्द आदि विषयों के रूप में क्रमशः परिणत होते हैं। जिनके हेतु ये गुण उनके लौकिक भोग सम्पन्न कराकर मुक्ति का सम्पादन कर देते हैं, उनके लिए फिर गुणों का कोई कार्य शेष नहीं रह जाता। अपना कार्य पूर्ण करके वे अपनी कारणावस्था में लौट जाते हैं अर्थात् गुण अपने कार्य सम्पादन से कृतार्थ होकर प्रतिलोम परिणाम से अपने मूल कारण में विलीन हो जाते हैं, यही गुणों का कैवल्य है। अथवा चिति शक्ति का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाना कैवल्य है। तात्पर्य यह है कि जब योगी के चित्त की व्युत्थान (सक्रिय) वृत्तियाँ रुक जाती हैं, तब व्युत्थान, समाधि एवं निरोध के संस्कार मन में विलीन हो जाते हैं। मन अपने कारण अस्मिता (अहंकार) में, अस्मिता-महत्तत्त्व (बुद्धि) में एवम् महत्तत्त्व अपने मूल कारण प्रकृति में विलीन हो जाता है। ऐसी स्थिति में चितिशक्ति (चेतन आत्मतत्त्व) का प्रकृति एवं प्रकृति से उत्पन्न महत् आदि तत्त्वों से किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रहता। यही चितिशक्ति का अपने वास्तविक रूप में प्रतिष्ठित होना है । यही योगी की कैवल्यावस्था है, इसमें गुणों आदि के साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। तब वह योगी, जिसने आत्मतत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है- आनन्द स्वरूप परमात्मा से सम्बद्ध होकर दिव्य आनन्द का रसास्वादन किया करता है। योगशास्त्र में ईश्वरप्रणिधान का इसी निमित्त विधान किया गया है; क्योंकि इसी के माध्यम से वह ईश्वर मिलन की चरमावस्था प्राप्त करता है। सूत्र में प्रयुक्त 'इति' शब्द इस कैवल्यपाद और योगशास्त्र की समाप्ति का संकेतक है॥ ३४॥

॥ इति कैवल्यपादः समाप्तः ॥

॥ इति पातञ्जलयोगदर्शनं समाप्तम् ॥

परिशिष्ट–क
सांख्यदर्शन–शब्दानुक्रमणिका

शब्द	सूत्रविवरण	शब्द	सूत्रविवरण	शब्द	सूत्रविवरण
इन्द्रिय संयम	४.१९		१३५,		३.२५,५५,
ईशित्व	५.८२		३.५७,५.१०		५९,५.५८,
उच्छेद	५.७५		११,१६,१७,		६९,११३
उत्कर्ष	१.५,४.२३		६५,८४,११३	कारण तत्त्व	५.९
उत्कृष्ट	५.२१	उपादानता	५.११०	कारणध्वंस	६.२१
उत्कृष्ट ज्ञान	३.४४	उपादान भूत	१.९४, ३.३	कारण भूत	३.१
उत्तमाम्भ	३.४३	उपादानभूत कारण	१.९३	कारण रूप	१.६८,७४,
उत्पादन	१.११७	उपादानभूता	१.७५		१२३,३.५४
उद्भव	३.१.२	उपाधि	६.४६,४७	कारण रूपा	१.१३६
उद्भाव	५.२६	उपासना	३.४०	कारण लय	३.५४,५७
उद्भिज्ज	५.१११	उपास्य सिद्धि	४.३२	कार्य	१.११०,
उद्भूत	५.१०९	उभयत्र	५.२३		३.५५
उन्नत अवस्था	३.२९,४८	ऊर्ध्व	३.४८	कार्य-कारण	१.१२५
उपकार	१.३२,३३	ऊष्मज	५.१११	कार्य-कारण-भाव	१.३८,११२,
उपकारक	१.३१	ऊह	३.४४,४५		११४,१४६
उपकार्य	१.३१,३३	ऋचा	१.७७	कार्यध्वंस	६.२१
उपदेश श्रवण	६.५८	ऋतु	३.६०	कार्य-रूप	५.४५
उपदिष्ट	३.७९,४.२१	एकतर-कारण	१.११२	कार्य-शक्ति	५.४७
उपपादन	६.१	एकतर-कार्य	१.११२	कुम्भक	३.३३
उपभोग देह	५.१२४	एक देशीय	१.७६, ५.६९	कृत-कृत्यता	४.३२
उपरञ्जक	१.२८	एक देशीय पदार्थ	१.७६	कृत श्रुति	३.१४
उपरत	३.४३	ऐन्द्र	३.४६	कृतार्थता	६.५
उपरति	५.१२३	ऐश्वर्य	३.७३, ५.८२	कृशकाय	४.२७
उपराग	१.२९,६.२७,२९	ओघ	३.४३	कोशकार	३.७३
उपलक्षण	३.३३,७१	करण	२.३१,३८,	क्लिष्ट	२.३३
उपवेद	३.८०		३.१६,२३,	क्लेश	५.११८
उपहित	६.४६		२४, २६	क्षणिकत्व	१.३७
उपादान	१.७६,	करण-समुदाय	३.१५	गतिशील	५.७६
	१०८,	कर्त्ता एवं भोक्ता	६.६४	गमनागमन	३.५,४.२५
	१२९,	कर्तृत्व	१.१६४	गरिमा	५.८२
	३.४३, ५.८,	कर्म	५.९९,११८	गान्धर्व	३.४६
	१४, ७२,	कर्म और स्वरूप भोग	५.११७	गुण	५.८५,
	१२६,६.१८,	कर्म देह	५.१२४		९९,६.३९
	३२,३३,३५,	कर्मानुष्ठान	३.२७	गुणत्रय	१.६७
	३६,३७,६२	कष्टानुभूति	३.३४	गुणपद	६.६२
उपादान-कारण	१.७५,७६	काम रूपिणी	४.१६	गुणातीत	५.७५
	९४,१११,	काम्य-कर्म	१.८५	गुरुत्व	१.१२८
	११३,११५,	कारण	१.६८,१३५,	गृहस्थ	३.३५

॥इति शब्दानुक्रमणिका समाप्ता॥

परिशिष्ट–ख
सांख्यदर्शन सूत्रानुक्रमणिका

सूत्रपाठ	अ० सूत्र०
न कालयोगतो०	१.१२
न किंचिदप्यनु०	५.१२५
न गतिविशेपात्	१.४८
न तज्जस्यापित०	४.३१
न तन्त्वान्तरं०	५.३०
न तन्त्वान्तरं सा०	५.९४
न तदपलापस्त०	५.९२
न तादृक्पदार्थ०	१.२४
न तेजोऽपसर्प०	५.१०५
न त्रिभिरपौरुषे०	५.४१
न दृष्टात्तत्सिद्धि:०	१.२
न देशभेदेऽप्य०	५.१०९
न देशयोगतो०	१.१३
न देहमात्रत:०	५.१२३
न देहारम्भकस्य०	५.११३
न द्रव्य नियमस्त०	५.१०८
न द्वयोरेककाला०	१.३१
न धर्मापलाप:०	५.२०
न नित्य:स्यादा०	६.१३
न नित्यत्वं वेदा०	५.४५
न नित्यशुद्धबुद्ध०	१.१९
न नियम: प्रमाण०	५.२२
न निर्भागत्वं०	५.७१
न निर्भागत्वंकार्य०	५.८८
न परिमाणचातु:०	५.९०
न पांचभौतिकं०	५.१०२
न पौरुपेयत्वं०	५.४६
न प्रत्यभिज्ञावा०	१.३५
न बाह्यबुद्धिनिय०	५.१२१
न बाह्याभ्यन्तर०	१.२८
न बीजांकुरवत्सा	५.१५
न बुद्ध्यादिनि०	५.१२६
न भागलाभो०	५.७३
न भागियोगो०	५.८१
न भावे भावयोग०	१.११९
न भूतचैतन्यं०	५.१२९
नभूतप्रकृतित्वमिन्द्रि०	५.८४
नभूतियोगेऽपिकृत०	४.३२
नभोगाद्रागशान्ति०	४.२७
नमलिनचेतस्युपदे०	४.२९
नमुक्तस्यपुनर्वन्ध०	६.१७
न मुक्तामुक्तयोर०	५.४७
नयज्ञादे:स्वरूपतोध०	५.४२
न रागादृतेतत्सिद्धि:०	५.६
नरूपनिबन्धनात्प्रत्य०	५.८९
नर्तकीवत्प्रवृत्तस्या०	३.६९
न वयं पट्पदार्थवादि०	१.२५
नविज्ञानमात्रंबाह्य०	१.४२
नविशेपगतिर्निष्क्र०	५.७६
नविशेपगुणोच्छि०	५.७५
नव्यापकत्वंमनस:०	५.६९
नशब्दनित्यत्वंकार्य०	५.५८
नशिलापुत्रवद्धर्मि०	६.४
नश्रवणमात्रात्तत्सि०	२.३
न श्रुतिविरोधोरागिणां	६.५१
नपट्पदार्थनियम:०	५.८५
नसंज्ञासंज्ञिसम्बन्धं०	५.९६
नसकृद्ग्रहणात्स०	५.२८
नसतोबाधदर्शनात्	५.५३
न समवायोऽस्तिप्रमा०	५.९९
नसम्बन्धनित्यतो०	५.९७
नसर्वोच्छित्तिरपुरु०	५.७८
नसांसिद्धिकं०	३.२०
नस्थाननियमश्चि	६.३१
नस्थूलमिति०	५.१०३
नस्वभावतोबद्ध०	१.७
नस्वरूपशक्ति	५.३३
नस्वातन्त्र्यात्तद्०	३.१२
नाकारोपरागो०	५.७७
नाज: सम्बन्धो	५.९८
नाणिमादियोगो०	५.८२
नाणुनित्यता०	५.८७
नात्माविद्यानो०	५.६५
नाद्वैतमात्मनो०	५.६१
नाद्वैतश्रुतिविरो०	१.१५४
नानन्दाभिव्यक्ति:	५.७४
नानात्मनापिप्रत्य०	५.६२
नानादिविपयो०	१.२७
नानिर्वचनीयस्यत०	५.५४
नानुमेयत्वमेव	५.१०१
नानुश्रविकादपित०	१.८२
नान्धादृष्ट्याचक्षु	१.१५६
नान्यथाख्याति	५.५५
नान्यनिवृत्तिरूप०	५.९३
नान्योपसर्पणे०	६.४४
नापौरुपेयत्वान्नि	५.४८
नाप्राप्तप्रकाशकत्व	५.१०४
नाभासमात्रमपि	४.३०
नाभिव्यक्तिनिबन्ध०	१.१२०
नावस्तुनोवस्तु०	१.७८
नावस्थातोदेहधर्म०	१.१४
नाविद्यातोऽप्यवस्तु	१.२०
नाविद्याशक्तियोगो०	५.१३
नाश:कारणलय:	१.१२१
नाशक्योपदेशवि०	१.९
नासत:ख्यानंनृशृङ्गवत्	५.५२
नासदुत्पादोनृशृङ्ग०	१.११४
नास्ति हि तत्रस्थिर०	१.३३
नि:सङ्गेऽप्युपरागो०	६.२७
निजमुक्तस्यबन्धध्वं०	१.८६
निजशक्तिर्व्युत्पत्त्या०	५.४३
निजशक्त्यभिव्यक्तिर्वा	५.९५
निजशक्त्यभिव्यक्ते०	५.५१
निजशक्त्युद्भवमित्या	५.३१
नित्यत्वेऽपिनात्मनो०	६.३३
नित्यमुक्तत्वम्	१.१६२
निमित्तत्वमविवेक०	३.७४
निमित्तव्यपदेशात्त०	५.११०
नियतकारणत्वान्न०	३.२५
नियतकारणानदुच्छि०	१.५६
नियतधर्मसाहित्य०	५.२९

॥ इति सूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥

परिशिष्ट–ग

योगदर्शन–शब्दानुक्रमणिका

॥ इति योगदर्शन शब्दानुक्रमणिका समाप्ता ॥

परिशिष्ट–घ

योगदर्शन–सूत्रानुक्रमणिका

॥ इति योगदर्शन सूत्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥